

कहान महिमा प्रकाशन पुष्प-१७ (पुस्तिका-७)

ॐ

श्री वीतरागाय नमः ।

चंपामृत

पूज्य बहिन श्री चंपाबेन के वचनमृतों का क्रमिक
संपूर्ण, शास्त्रीय हरिगीतिका छंद में पद्यानुवाद



पद्यानुवादक :

धीरजलाल प. देसाई (चैतन्यप्रिय) (B.Sc. M.Ed.)

प्रकाशक :

श्रीमती सुधाबहिन धीरजलाल देसाई

‘चंपामृत’ ५९, कहाननगर सोसायटी,

पालीताणा रोड, सोनगढ-३६४२५०

फोन (०२८४६) २४४६५४

आवृत्ति-प्रथम प्रत-५००

वीर संवत्-२५२९

विक्रम संवत् २०६०,

इ. स. २००४

कहान महिमा ग्रंथमाला

इस ग्रंथमाला में पू. सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी और पू. बहिनश्री चंपाबहिन के प्रवचनों का पद्यरूपांतर एवं पद्यानुवाद आधारित पुस्तिकाएं गुजराती एवं हिन्दी भाषा में प्रकाशित होती रहेगी। इसके सिवा उनकी महिमा व्यक्त करते काव्य, नाटक, नृत्यनाटिका और अन्य प्रकार के साहित्य आधारित पुस्तिकाएं प्रकाशित होती रहेगी। यह पुस्तिका का क्रमांक ७ है।

इस पुस्तिका की आवृत्ति पू. बहिनश्री चंपाबहिन, पिताश्री व्रजलालभाई, काकाश्री पंडित हिंमतभाई की स्मृति में भेंट देने के लिये श्रीमती सुधाबहिन धीरजलाल देसाई की ओर से प्रकाशित करने में आयी है।

प्रकाशन दिनांक २१-४-०४ वैशाख शुक्ला २
(पू. गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का ११५वाँ जन्मजयन्ती दिन)

मूल्य : स्वाध्याय

चंपामृत

टाइप सेटिंग एवं मुद्रक :

स्मृति ऑफसेट सोनगढ-३६४२५०

फोन : (०२८४६) २४४०८१



ॐ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ

ॐ सिद्ध शुद्धात्मने नमः । नमः श्री सीमंधराय ।

श्री सर्वज्ञाय नमः । श्री वीतरागाय नमः ।

ॐ स्व शुद्धात्मने नमः । नमः श्री सद्गुरुदेवाय ।

जैनं जयतु शासनम् ।

णमोकार महामंत्र

णमो अरहंताणं ।

णमो सिद्धाणं ।

णमो आयरियाणं ।

णमो उवज्जायाणं ।

णमो लोए सव्वसाहूणं ।

एसो पंच णमोयारो, सव्वपावप्पणासणो ।

मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

चत्तारि मंगलं—अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं,
केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं ।

चत्तारि लोगुत्तमा—अरहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा ।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरहंत सरणं पव्वज्जामि,
सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो
सरणं पव्वज्जामि ।



आद्य वक्तव्य

□ प्रकाशन की शुरुआत कब से हुई ?

महावीर निर्वाण कल्याणक दिन विक्रम संवत् २०२२ दिनांक १२-११-६६ को “कहान महिमा” काव्य संग्रह दीपावली के दिन प्रवचन के बाद पूज्य सद्गुरु देवश्री कानजी स्वामी की उपस्थिति में प्रकाशित हुआ। इसका स्वाध्याय मंदिर सोनगढ़ में विमोचन हुआ। उसमें विविध मात्रामेल, अक्षरमेल तथा अपद्यागद्य छंदों को काव्य, गीत और सॉनेट में प्रयोजित करने में आया। अंतिम काव्य में १३२ हरिगीत श्लोक ‘प्रवचन प्रकाश’ नाम से प्रकाशित हुए। यह श्लोक पू. गुरुदेवजी के प्रवचन में से प्रवचन दरम्यान चुने हुए अगत्य के सूत्रों के पद्यरूपांतर थे। पू. गुरुदेवजी के प्रवचनों में हजारों की संख्या में सनातन सत्य, सूत्र, सिद्धांत, नियम, व्याख्या, उदाहरण, प्रमेय प्रस्फुरित होते रहते हैं। उसको पद्यरूपांतर में परिवर्तन करने की महेच्छा रहा करती थी। अंतिम ३५ वर्ष दरम्यान विविध पद्यरूपांतर और पद्यानुवाद होते रहे। थोड़े नाटक, नृत्य नाटिका, संवाद, एक पात्री अभिनय, रास-गरबा जैसी सांस्कृतिक कार्यक्रम में उपयोगी रचनाएँ भी हुईं। इन काव्यों में से कोई कोई रचना को पू. गुरुदेवश्री के समक्ष गाने का लाभ भी मिला। पू. गुरुदेवश्री के पवित्र कर करमल से ही सभी पुस्तिकाएँ वितरित भी हुईं।

□ कौन कौन से पद्यरूपांतर तैयार हुए हैं ?

- (१) पू. बहिनश्रीके वचनामृतों का पद्यरूपांतर एवं पद्यानुवाद (हिन्दी और गुजराती में) (अंदाजित १२०० श्लोक) चंपामृत
- (२) पू. गुरुदेवश्री के वचनामृतों का पद्यरूपांतर एवं पद्यानुवाद (हिन्दी और गुजराती में) (अंदाजित १०७० श्लोक) कहानामृत
- (३) समयसार कर्ताकर्म अधिकार पर पू. गुरुदेवश्री के प्रवचन (पू. बहेनश्री लिखित भाग-४) (अंदाजित १४५० श्लोक)
- (४) अन्य प्रवचनों का पद्यरूपांतर-प्रवचनप्रकाश (अंदाजित ४०० श्लोक)

(कुल ‘हरिगीतिका’ मात्रामेल छंद में लिखे हुए अंदाजित ४००० श्लोक-कहान तत्त्वसार)

□ पद्यरूपांतर श्लोको का बंधारण कैसा है ?

यहाँ पर 'हरिगीतिका' २८ मात्रामेल छंद प्रयोजने में आया है। 'हरिगीतिका' की सात मात्राओं का चार बार पुनरावर्तन होने से यह छंद की २८ मात्रा की एक पंक्ति बनती है। 'दादालदा' का चार आवर्तन होता है। पाँचवीं मात्रा लघु होती है। ७, १४, २१, २८ मात्रा पर 'यति' होता है और अंतमें 'र' गण होता है। अत्यानुप्रास भी होता है। सुंदर राग से गा सकते हैं। पंडितरत्न श्री हिंमतभाई (मेरे काकाजी श्वसुर) ने पंच परमागम के श्लोको के पद्यानुवाद में 'हरिगीत' का उपयोग किया है। यह छंद मुमुक्षु समाज में अति प्रचलित हुआ है। इससे मिलता-जुलता यह छंद है।

□ यह पद्यरूपांतरों की विशेषताएँ क्या क्या हैं ?

- (१) इ. स. १९६६ में पू. गुरुदेवश्री की उपस्थिति में इस प्रकार के १३२ श्लोक 'कहान महिमा' में प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार के प्रयास का यह विस्तृत कार्य है। इसलिये यह प्रमाणभूत है।
- (२) ये रचनाएं वर्गीकृतरूप से ६ पुस्तिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। यह इसका संपूर्ण, क्रमिक, शब्दशः स्वरूप है।
- (३) पू. गुरुदेवश्री कानजी स्वामी और पू. बहिनश्री चंपाबहिन के शब्दों और भावों का ही इसमें बरोबर अनुसरण हुआ है। इस में कुछ भी मौलिक नहीं है।
- (४) भाषा, शैली, छंद बंधारण, शब्द, भाव, स्पष्टता, चरणों का क्रम, वर्गीकरण, पुनरावर्तन, कठिनता, विश्वसनीयता, प्रमाणभूतता, सापेक्षता, समीक्षा, विवेचन, समालोचना, डिस्क्रीमीनेशन जैसी अत्याधुनिक साहित्य निर्माण की प्रक्रिया में यह पद्यरूपांतर पसार हो चुका है। इसलिए यह संशोधन संकल्पना का आधार सहित है।
- (५) यह पद्यरूपांतर एवं पद्यानुवाद दूसरे अनेक दृश्य-श्राव्य माध्यम में भावी में परिवर्तन होने की शक्यता धरता है।
- (६) ८००० जितने पू. गुरुदेवश्री कानजी स्वामी एवं पू. बहिनश्री चंपाबहिन के

प्रवचनों में से लाखों श्लोक प्रमाण पद्यरूपांतर रचनाओं की शक्यता-क्षमता इस में रही है।

- (७) भारत के महत्व के तीर्थस्थानों की इस मूल प्रतों के साथ यात्रा की गई है।
- (८) अभी तक प्रकाशित रचनाओं की मुमुक्षु तथा अन्य समाज के द्वारा लिखित एवं मौखिक स्वरूप में बहुत प्रशंसा हुई है।
- (९) 'आत्मप्रतीति' राजकोट सामयिक में भणका १ से १८ तक में 'चंपामृत' स्वरूपमें ९७ वचनमृतों का पद्यस्वरूप प्रकाशित हो चुका है। और बहुत सी चनाएं भी 'आत्मप्रतीति' तथा अन्य सामयिकों में प्रकाशित हो चुकी है।
- (१०) 'कहान महिमा' भाग १ से ५ और 'मातमहिमा' भाग १ से ३ स्वरूप में ओडियो केसेट्स, आल्बम और उनकी हजारों नकलें मुमुक्षु समाज में भेट स्वरूपमें दी गई है। जिस का संतवाणी कलाकार के स्वरमें साउन्ड स्टुडियों में ध्वनि मुद्रण हुआ है। रमणीकभाई अजमेरा (भावनगर) और कांतिभाई कामदार (मद्रास) ने दो केसेट्स स्पॉन्सर की है।
- (११) ऑडियो केसेट्स आल्बम का MP3 CD स्वरूपमें छह घंटों का ऑडियो रेकोर्डिंग हो चुका है। जिस की ७०० नकल मुमुक्षु समाज को भेंट दी गई है। जिस को जिनबाल (लंडन) में स्पॉन्सर किया है।

'कहान तत्त्वसार' VCD ७०० पेईज़ और ५० फोटोग्राफ्स स्वरूप में तैयार की गई है। और 'कहान तत्त्वसार' भाग १ से ३ ऑडियो विडियो स्वरूप में भी तैयार कि गई है। जिसमें ७०० पेईज़ के बेक ग्राउन्ड में 'कहानमहिमा' और 'मातमहिमा' के भजन दिये गये हैं। जिसकी नकलें भी भेट दी जा रही है।

“धन्य बन्यो रे पेलो गढ गीरनार” नाटक जो सोनगढ में हमारे कुटुंब की बहिनों के द्वारा अभिनित किया गया था उसकी VCD स्वरूप में अनेक नकलें भेंट दी जा रही है।

- (१२) यह रचनाएँ और ऑडियो केसेट्स तथा VCD आल्बम सोनगढ, अहमदाबाद, शिवपुरी आदि स्थोलों से विमोचित हुई है। जिसका न्युज़ पेपर्स में विस्तृत अहेवाल भी छपा है।

□ अन्य कौन कौन से पद्य स्वरूप तैयार हुए हैं ?

‘कहानमहिमा’ (पू. सद्गुरुदेवश्री कानजी स्वामी की महिमा) ‘मातमहिमा’ (पू. बहिनश्री चंपाबहिन की महिमा), धन्यावतार (नृत्यनाटिका), जन्मवधाई (संवाद), कहान आब्या ! (नृत्य नाटिका), जैन भजन, स्तवन, काव्य, गीत, सॉनेट आदि अनेकविध रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। अभी तक में ४००० श्लोक और १०० जैन भजनों प्रकाशित हो चुके हैं। जिस की यादी अंतीम टाईटल पेईज ३, ४ पर दी गई है।

□ पद्यरूपांतर को कौन कौन से सूत्रों में वर्गीकृत किये गये हैं ?

जीवसूत्र, समकितसूत्र, पुण्य-पापसूत्र, दृष्टिसूत्र, कारकसूत्र, मार्गसूत्र, उपादानसूत्र, भावनासूत्र, नयसूत्र, ज्ञानसूत्र, देवसूत्र, द्रव्यसूत्र, पुरुषार्थसूत्र, पंचतत्त्वसूत्र आदि सूत्रों के स्वरूप में ६ पुस्तिकाओं में ४००० श्लोक प्रमाण रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। ये सब वर्गीकृत स्वरूप में हैं जिस से एक ही प्रकार की संकल्पना, विभावना का एक साथ अभ्यास हो सके और एकसूत्रता रह सके।

□ सूत्र शब्दका उपयोग क्यों किया गया है ?

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी और पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन के प्रवचनों में हरहमेश सनातन सत्य, नियम, सिद्धांत, व्याख्या, सूत्रों का प्रतिपादन होता रहा। पूज्य गुरुदेव श्री हमेशा उसका पारायण करते थे। पूज्य गुरुदेव श्री और बहिनश्री विदेहक्षेत्र में विराजमान श्री सीमंधर स्वामी की दिव्य ध्वनि सूनकर भारत में आये हैं। पूज्य श्री कुंदकुंदाचार्य मुनि आचार्य भगवंत जब विदेहक्षेत्र में पधारे तब उन दोनों की वहाँ उपस्थिति थी। इस से उनके प्रवचनों में जिनसूत्र ही प्रस्फुरित हो रहे थे। उनके सभी वाक्य भागवत वाक्य थे। प्राकृत गाथाएँ और प्राचीन शास्त्रकारों ने रचे हुए ग्रंथ भी सूत्र कहलाते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री और पूज्य बहिनश्री के सभी प्रवचनों भी सूत्र ही हैं। इसलिये यहाँ पर सूत्र शब्द को प्रयोजने में आया है।

□ यह प्रस्तुत रचना में कौन सी भिन्नता है ?

आगे वाली सभी रचनाएं वर्गीकृत स्वरूप में थी। यह रचना क्रमिक स्वरूप में है। ये रचनाएं वचनानुगतों का संपूर्ण, क्रमिकः, शब्दशः, शास्त्रीय छंदोबद्ध

पद्यस्वरूप है। दोनों वचनामृतों में सभी शास्त्रों का संक्षिप्त सार आ जाता है। इसलिये इसका पद्यस्वरूप किया गया है। यह सुंदर राग से गाया जा सकता है। स्वाध्याय कर सकते हैं। ऑडियो रूपांतर हो सकता है। गद्य स्वरूप की अपेक्षा पद्य स्वरूप अधिक कर्णमधुर होता है। प्राचिन सभी रचनाएं पद्यस्वरूप में ही लिखी गई हैं। इसीलिये यह पद्यस्वरूप का नम्र प्रयास है।

□ यह कृत्य किस का है ?

इस में मेरा कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। कुछ भी मौलिक नहीं है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी और पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन का ही सबकुछ है। उसके शब्द और भावों को यथातथ्य रखकर जैन तत्त्वज्ञान (कहान तत्त्वज्ञान) को वर्गीकृत और क्रमिक स्वरूप में देने का यह नम्र प्रयास है। वैसे भी यह सब पुद्गल का ही खेल है। इस में आत्मा का कुछ भी कर्तृत्व है ही नहीं।

□ तो फिर यह सब क्यों है ?

पूज्य गुरुदेव श्री का तत्त्वज्ञान अलौकिक, संपूर्ण, अवर्णनीय, सुस्पष्ट, सरल, स्यादवाद स्वरूप, सूत्रात्मक, सर्वांग शुद्ध, सैद्धांतिक, नियमबद्ध, व्याख्यायित, क्रमिक, आगमन-निगमन युक्त, अनुबंधित, उदाहरण युक्त, नाविन्य से भरपूर (Innovative), रसदायक तत्त्वज्ञान है। उसका लयबद्ध पद्यस्वरूप और संगीतमय रज्जुआत याद रखने के लिये, सुनने के लिये पद्य स्वरूप में अधिक उपयोगी हो सकता है। प्राचीन सभी साहित्य लाखों, करोड़ों श्लोकों के स्वरूप में पद्य में ही लिखा गया है। इसलिये पद्यस्वरूप इच्छने योग्य है।

□ इस कार्य में किसका सहकार संप्राप्य है ?

इस प्रकाशनों का गुजराती कम्प्यूटर सेटींग मेरे भानजें किरन डेलिवाला, प्रज्ञा डेलिवाला, एकता डेलिवाला और हिन्दी निलय जैन ने किया है। मुद्रण कार्य ज्ञानचंद जैन स्मृति ओफसेट सोनगढ़ ने किया है। समीक्षा, विवेचन, भाषा शुद्धि बगैरह में लोकभारती के अध्यापकों की मदद मिली है। आत्म प्रतीति सामयिक में 'चंपामृत' का शिर्षक से १८ मनका प्रकाशित हुए हैं। और अन्य भी बहुत से काव्य प्रकाशित हुए हैं। इसलिये मुमुक्षु समाज में इस प्रकार का प्रयास सुप्रसिद्ध है। इस प्रकार के प्रयास को प्रोत्साहित करते, प्रशंसा युक्त अनेक अहेवाल, अभिप्राय, मौखिक और

लिखित स्वरूप में प्राप्य हुए हैं। उन सब का मैं आभारी हूँ। और भविष्य में भी सहकार प्राप्त होता रहेगा ऐसी अभिलाषा रखता हूँ हमारे कुटुंब के अनेक सभ्यो ने मुझे हमेशा प्रोत्साहित किया है। मेरे मातुश्री समान श्री ललिताबहिन अजमेरा, बहिनें प्रभावहिन, लाभुबहिन, मंजुबहिन, गुणवंती बहिन, सविता बहिन और उनके कुटुंबी तथा मेरी धर्मपत्नी सुधा देसाई का मैं आभारी हूँ। ऑडियो केसेट्स MP3/VCD आदि ऑल्बम और प्रकाशनों में मेरे भानजे दिलीप भाई, चेतनभाई और मेरे बहनोई श्री अनंतराय बोटारदा का मुझे सहयोग प्राप्त हुआ है। पद्यरूपांतर और जैन भजनों का पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन के समक्ष स्वाध्याय में सहकार बदल मेरे श्वसुर श्री ब्रजलाल जेटालाल शाह, पंडित रत्न श्री हिंमतभाई शाह और ब्रह्मचारी कंचनबहिन का भी मैं आभारी हूँ। अलंग शीप ब्रेकर श्री रमणिकभाई अजमेरा और शांत, सरल, स्वभावी शांताबहिन महेता का भी मुझे हमेशा प्रोत्साहन मिलता रहा है। उन सब का मैं बहोत बहोत आभारी हूँ। हिन्दी पद्यानुवाद में हिन्दी वचनामृत पुस्तक का भी आधार लिया गया है। उनका भी मैं आभारी हूँ।

□ अंतिम प्रार्थना क्या है ?

इस कार्य में पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी और पूज्य भगवती स्वरूप बहिनश्री चंपाबहिन के प्रवचनों-वचनामृतों के भाव, शब्द, आशय को संपूर्ण रूप से यथा स्वरूप में रखने का प्रयास किया गया है। तो भी मेरी अल्पमति, अज्ञानता, प्रमाद, भाषाशास्त्र का अल्प अभ्यास, व्याकरण-छंद शास्त्र का अल्प अभ्यास, विद्वत्ता का अभाव, अल्प शास्त्र अभ्यास आदि अनेक कारणों से कोई भी त्रुटी रह गई हो तो इसके लिये मैं देव-गुरु-शास्त्र से क्षमा याचता हूँ। यदि मुझे मेरी कोई त्रुटी के प्रति विद्वानों के द्वारा मार्गदर्शित किया जायेगा तो मैं भविष्य में उसको सुधारने का अवश्य प्रयास करूंगा। अंत में भावि तीर्थकर श्री सूर्यकीर्तिनाथ एवं उनके भावि गणधर श्री देवकीर्तिनाथ के चरवारविंद में विनम्रभाव से नमन-वंदन करके उनके तत्वज्ञान का अभ्यास करके सर्व जीव स्वानुभूति प्राप्त कर के भविष्य में सिद्ध पदको प्राप्त करे ऐसी मेरी अभिलाषा है।

दिनांक १८-३-२००४, फाल्गुन कृष्णा ११
 प्रकाशन दिनांक २१-४-२००४, बुधवार
 (पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का ११५वीं
 जन्मजयंती दिन, वैशाख शुक्ला द्वितीया)

“चैतन्यप्रिय”
 सोनगढ़

तुज

(तोटक)

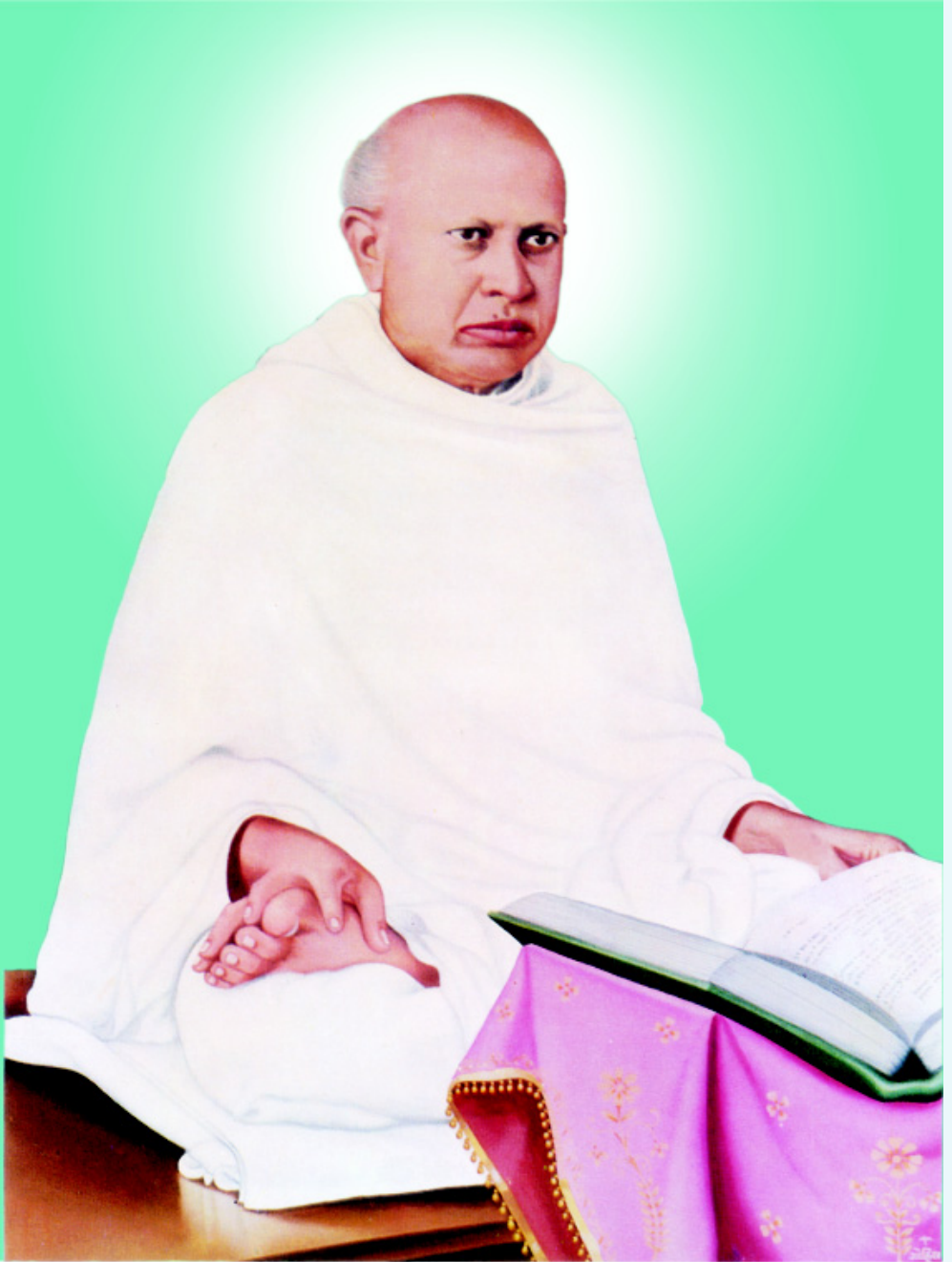
तुज प्रवचनो बहु प्रिय मने, शबदे शबदे अमी वहेण वहे;
तुज वात महीं नर्यु सत्य ठरे, मुज नित नवीन संदेश कहे। १
तुज रूपक ने उपमा बधीए, मुज हृदय सोंसरवी नीकळे;
हळवे हळवे ज अखंड अने सत शासननी सहु वात कहे। २
तुज नियम सत्य सदाय भणे, पथ भूलेलने पथ सत्य दीए;
रसहीन संसार विषे रचतां, मनु बाळकने गम तुं ज दीए। ३
तुज नाम मने बहु प्रिय खरे, सुणतां मुज अंतर दाह दमे;
गुरुदेव! अमारा कहान तमे, जगना हितचिंतक नाथ तमे। ४
तुज उंमर ज्यां हजुं बाळ हती, न हती गम जैन खरा पथनी;
भणतां भणतां सत शोधननी, लगनी रहेती वळी आगमनी। ५
हती धून तने सत संगतणी, अने संगत तो साधु संत तणी;
सहु लोक महीं तुं भगत बनी, रचतो प्रभु गीत कवि तुं बनी। ६
बहु तें ग्रह्युं ने बहु तें ज कहुं, बहु भेट धरी जगने शरणे;
तुज आतम काज शुं ना तें कर्युं! पुरुषार्थ करी समकित वर्युं! ७
तुज जीवनने सफळ करवा, बहु वर्ष लगी तप तें ज तप्युं;
सघळां बहुमान तजी दर्ईने, वन जंगलमां जई भेख धर्युं। ८
तुज दिल सदाय रह्युं तलसी, मुनि जंगलमां जई वास करी;
निज आतम ज्ञान प्रकाश करी, बस आनंदमां रहे मस्त बनी। ९
तुं सुखी, जगनुं दुःख तें ज हर्युं! तुं अमीरने आतम रत्न जड्युं!!
तुं ज चिंतक तें लख शास्त्र भण्यां! तुं कवि, पण चेतन काव्य रच्यां!! १०

(‘कहान महिमा’ १९६६ में प्रकाशित)

रचना-दि. ५-३-१९६५, अड़ताला

‘चैतन्यप्रिय’





परम पूज्य अध्यात्ममूर्ति सद्गुरुदेव श्री कान्जुरवामी

परमपूज्य, परमोपकारी, परमकरुणावंत सद्गुरुदेव
श्री कानजी स्वामीने
अर्पण

(प्रेट्टार्कन सोनेट) (शिखरिणी)

प्रभो! ज्ञानात्मा छो, अम सकळनां दुःख हरवां-
करुणा दृष्टिथी गगन परथी खास ऊतरी,
अमोने संबोधी, लख जनमनां क्रूर भयथी-
ऊगारीने आप्यो सरळ पथ जे भान करवा;
संभाळीने पोषीशुं, कमळवत ना मेल अडवां-
दर्शुं तेने हां, अहरनिश मिथ्यात्व रजथी,
अने जेवी रीते ध्वनित धसती दुःख हरती,
अमे तेवी रीते विकसीत थशुं मोक्ष वरवा
प्रभो वाणी मीठी श्रवण करतो एटलुं चहुं-
सुणेलां ऊद्गारो गत समय केरां हृद विषे-
संभाळी राखेलां बहु ज मुज पासे न बचत,
परंतु आ थोडां रचित श्रमथी मांड संघरु;
अहो! आजे ते सौ तुज चरण पासे धन दीसे!
प्रभो! स्वीकारी लो कवन मुज बनुं कृतकृत्य!

(‘कहान महिमा’ १९६६ में प्रकाशित)

रचना-दीपोत्सवी-२०२२

‘चैतन्यप्रिय’



પ્રશમમૂર્તિ ભગવતી પૂજ્ય બહેનશ્રી ચંપાબેન

(परमपूज्य भगवती स्वरूप बहिनश्री चंपाबहिन)

❀ धर्म माताने ❀

शेक्सपिरियन सोनेट

(पृथ्वी)

अहो ! अमर आतमा मनुजरूप धारी अहीं
सदा अम सरीखनां छतररूप बनी रहो !
भले उदय-अस्त आ अम शरीर पामे कहीं,
बने भव अधिक ना वर तमारुं पाय्मे अहो !

अहीं अकळ योगथी पथ विदेहथी आवीने
मोक्षमग पथिक शा रगरगे विचरी र्हां,
अने सद्गुरु तणुं अनुप वात्सल्य पामीने
अल्प समयमां तमे परमपद पामी गया ।

रही अभय, एकलां, विरल पुरुषार्थे करी
गुरु किरण शब्दना गृही, पुनित प्रभावना,
अने तम समीपथी मधुर व्हेण पामी फरी
वहे सरित, मात ! आश्रम महीं बाळा तणां ।

नमुं चरण आपने ! धरममात आपो मने-
भवो पटल छेदेवां प्रबळ सामर्थ्य चेतने !

(‘कहान महिमा’ १९६६ में प्रकाशित)

रचना-दि. १-३-१९६५, अड़ताला

‘चैतन्यप्रिय’

इलान मदिमा ग्रथमाणा-पुष्प ८ थी १६ (पुस्तिका ६)

सूत्राष्टक



पू. दादाश्री



पू. पिताश्री



पू. काकाश्री



पू. देबा भडेनश्री यंपाभडेन



पू. मानुश्री



पू. काकाश्री



पू. मोटां देबाश्री

स्मरागुंजली, स्मृति, श्रद्धांजली, ऋतु आपूर्ति

श्रीमती सुधाभडेन यंत्रवाव देसाई

चंपामृत

(पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन के वचनमृत का संपूर्ण एवं क्रमिक, शास्त्रीय पद्यानुवाद)

(छंद : हरिगीतिका)

- १ हे जीव! नहि रुचता तुझे यदि कहीं तो उपयोग को-
पलटा रुचि आत्म में लगा, रुचेगा आत्म में तुझे। १.
- २ आनंद भरा है आत्म में अवश्य रुचेगा तुझे;
नहि जगत में रुचे तुझे, आत्म रुचि तू लगा अभी। १.
- ३ अंतर की गहराई से हित साधने जागृत हुआ;
आत्म की है लागी लगन तो मार्ग उसको सहज है। २.
- ४ आत्म की है लागी लगन मार्ग न हो ऐसा नहीं;
ध्येय रखकर तू आत्म का दिनरात प्रयत्न कर वहाँ। २.
- ५ 'मेरा हित किस रीत से हो?' 'किस रीत जानूँ आत्म को?'
लगन बढ़ा प्रयत्न करे मार्ग अवश्य उसे मिले। २.
- ६ ज्ञानी की परिणति है सहज, नहि घोखना उसको पड़े;
नहि याद करते भेद से सहज परिणत हो जात है। ३.
- ७ वैराग्य सह ज्ञान प्रोत्साहक बने यदि हो साथमें;
ज्ञान रहित वैराग्य वह रुंधा हुआ कषाय है। ४.
- ८ है ज्ञान मार्ग को जानता, वैराग फँसने देता नहीं;
ज्ञान सहित का जीवन तो वैराग्यमय ही होत है। ४.
- ९ अशरण अहो! संसार में जन्म-मरण का चक्र चले;
है शरण देव-गुरु-धरम, है शरण चेतन ही तुझे। ५.
- १० गुरुदेव बतलाया हुआ चेतन शरण लक्षगत करे;
संस्कार जम जायँ आत्म में यही जीवन का कर्तव्य है। ५.
- ११ 'स्वभाव' की बात सुनते ही हृदय पर चोट लगे;
'स्वभाव' शब्द सुनते ही हृदय में उतर जात है। ६.

- १२ उल्लसित रोम रोम बने, नहि चैन सुख कहीं लगे;
‘स्वभाव’ लेकर छोड़ते यथार्थ भूमिका जानना। ६.
- १३ पैसे की जैसे जगत में कदम-कदम जरूरत पड़े;
पुरुषार्थ भी पर्याय-पर्याय आवश्यक बने। ७.
- १४ पुरुषार्थ बिन पर्याय नहि कभी एक प्रगट सके;
पुरुषार्थ बिन रुचि नहीं, पुरुषार्थ से केवल मिले। ७.
- १५ गुरुदेव की बातें ग्रहण करने जीव तैयार है;
गुरुदेव की श्रुतधार को नहि छोड़ना क्षण भी रुचे। ८.
- १६ गुरुदेव को श्रुतलब्धि है, योग वाणी का भी प्रबल है;
गुरुदेव की श्रुतधार में मार्ग मुक्ति का स्पष्ट दिखे। ८.
- १७ पुरुषार्थ युक्ति सुझ गई तो उलजन मार्ग की टले;
धन खींचता है धन सदा, वैसे युक्ति से अंतर ढले। ९.
- १८ यदि आत्म में पुरुषार्थ की युक्ति हाथ में आ गई;
कभी ढेर के ढेर ही लगे कभी सहज वैसा ही रहे। ९.
- १९ देखे सभी को सिद्ध सम चैतन्य सब हम देखते;
हम किन्ही को नहीं राग या तो द्वेषवाले देखते। १०.
- २० वे अपन स्वयं को भले जैसा ही चाहे मानते;
चैतन्य प्रकाशित हुआ चैतन्यमय सब भासते। १०.
- २१ आग्रह नहि अपवाद मारग या न उत्सर्ग मार्ग में;
परिणाम में आगे बढ़े उस मार्ग को ग्रहण करे। ११.
- २२ एकान्त यदि उत्सर्ग या अपवाद की हठ जो करे;
तो वस्तु के स्वरूप की यथार्थ खबर नहीं उसे। ११.
- २३ प्रगट हुई जहाँ द्रव्यदृष्टि चैतन्यतल दृष्टि लगे;
परिणति एकमेक हो गई तल में सहज दृष्टि रहे। १२.
- २४ स्वानुभूति के काल में या बाहर में उपयोग हो—
तल से नहीं दृष्टि हटे, नहि बाहर भी जाती कभी। १२.

- २५ दृष्टि हुई, ज्ञानी पहुँचे चैतन्य के पाताल में;
गहरी गुफा में पहुँच के सहज दशा वह साधते। १२.
- २६ 'मैं एक ज्ञायक, पर सभी' इसमें सब है आ गया;
यह एक धारा प्रवाहित हो उसमें कुछ कठिन नहीं। १३.
- २७ 'मैं ज्ञायक यह पर' जानने के बाकी सब प्रकार है;
गहरा उतरता है नहीं, है इसलिये कठिन लगे। १३.
- २८ 'मैं हूँ' इस प्रकार से स्वयं जोर बढ़े अस्तित्व में;
वह स्वयं को पहिचानता पहले उपर से जोर रहे। १४.
- २९ गहराई से फिर आ सके, विकल्परूप वह होत है;
पर भावना हो जोरदार तो सहजरूप, सच्चा आ सके। १४.
- ३० जिनवाणी की मिठास देख द्राक्ष वन में चली गई!
इक्षु भी अभिमान छोड़कर कोल्हू में है पिल गया! १५.
- ३१ जिनवाणी जो जड़ है उसे उपमा भी कैसी दी गई?
जिनदेव चेतन महिमा की बात क्या कहना अहा! १५.
- ३२ वैराग्य पानी सींचने से मुक्तिरूपी अमृत मिले;
सुख का फव्वारा छूटता, पर राग से दुःख ही मिले। १६.
- ३३ जैसे मूल पकड़े वृक्ष का तो हाथ सब है आ सके;
ज्ञायक स्वभाव को पकड़ता तो हाथ सब कुछ आयगा। १७.
- ३४ शुभ-अशुभ के परिणाम से नहि हाथ कुछ भी आयगा;
स्वभाव मूल पकड़े यदि शांति, समाधान रहे। १७.
- ३५ आकाश में उड़ती पतंग का डोर तो हाथ में ही है;
विकल्प तो आये परन्तु दृष्टि तो द्रव्य पर ही रहे। १८.
- ३६ 'चैतन्य हूँ' यह डोर यदि हाथ में है रख लिया —
तो विकल्प के समय भी अभ्यास से दृढ़ता बढ़े। १८.
- ३७ ज्ञानी अभी आसक्ति में या राग में बाहर खड़े;
अभिप्राय में तो राग को काला साँप वह मानते। १९.

- ३८ ज्ञानी विभाव खड़े दिखे तो भी विभाव से पृथक है;
अभिप्राय में तो राग वह जहर, काला साँप है। १९.
- ३९ मुझे पर की नहि है लालसा, आत्मा ही मुझे चाहिये;
ऐसी तीव्र उत्सुकता जिसे उसको ही मार्ग मिले। २०.
- ४० चैतन्यऋद्धि विकल्प में भी है नहीं वह रुकता;
निस्पृह हो अस्तित्व चहे आत्मा उसे है प्रगटता। २०.
- ४१ चैतन्य में से परिणमित है जो भावना फलती ही है;
यदि नहि फले तो जगत या ब्रह्मांड ये शून्य बने। २१.
- ४२ या नष्ट होता द्रव्य यह किंतु ऐसा तो होता नहीं;
चैतन्य के परिणाम साथ कुदरत सदा बंधी रहे। २१.
- ४३ ऐसा ही कोई वस्तु का स्वभाव तीर्थकर ने कहा;
रागद्वेष से नहीं उदित ऐसी भावना ही यथार्थ है। २१.
- ४४ गुरुदेव तीर्थकर बनेंगे, है उदय ऐसा वर्तता;
है वाणी का भी योग ऐसा समझ जाते लोग सभी। २२.
- ४५ है जोर इस में इतना अरुचि नहीं आती कभी;
रस कस भरी, रस बस वहे, रस ना टले कभी सुनते। २२.
- ४६ वांचन-विचार हो उपर के तो कुछ भी होता नहीं;
उठे हृदय से भावना तो मार्ग है सरल बने। २३.
- ४७ ज्ञायक की यदि अंतस्तल में खूब महिमा आ सके;
मार्ग उसका सरल बने उपर से कुछ ना हो सके। २३.
- ४८ आत्मार्थी तू यदि है सही, स्वाध्याय करना चाहिये;
विचार-मनन भी चाहिये, आत्मार्थी का यह खुराक है। २४.
- ४९ शास्त्र-पठन-श्रवण-मनन आदि प्रथम सब होत है;
शुभभाव से संतुष्ट नहीं, ऐसा खटका रहना चाहिये। २५.
- ५० है यह सब किंतु मार्ग भीतर कोई अलग है;
शुभ-अशुभ से मार्ग अलग है खटका रहना चाहिये। २५.

- ५१ भीतर विराजते आत्म की संभाल कर अंतर में-
तृप्त बने, अनंतगुण स्वरूप को तू देखे अभी। २६.
- ५२ वीतराग आनंद से भरा स्वभाव में क्रीड़ा करे;
आनंदरूप सरोवर में कर केलि, रमण वहाँ करे। २६.
- ५३ गुरुदेव ने प्राप्त किया है आत्मा अचंभा बड़ा!
इस काल में दुष्कर को और मार्ग को प्राप्त किया। २७.
- ५४ मार्ग बतलाया दूसरों को महिमा आज गायी जा रही;
परन्तु हजारों वर्ष तक महिमा गायी जायगी। २७.
- ५५ चित्रण भविष्य का कैसा तेरे हाथ की वह बात है;
'बंध समय जीव चेतना उदय समय क्या चित रे!' २८.
- ५६ धीर-गंभीर करके ज्ञान को भीतर भला तू देख रे!
सूक्ष्मता से देखने से आत्मा पकड़ में आ सके। २९.
- ५७ तोड़कर जाल विकल्प के, हो भीतर अलग एक बार तू;
फिर जाल चिपकेगा नहीं, आत्मा पकड़ आ जायगा। २९.
- ५८ जब बीज बोते तब प्रगटरूप कुछ दिखता नहीं;
विश्वास है कि डाल, पत्ते, फलादि आयेंगे वृक्ष में। ३०.
- ५६ उसी प्रकार शक्तिरूप मूल द्रव्य को यथार्थ से—
विश्वास से ग्रहण करने से पर्याय निर्मल प्रगटती। ३०.
- ६० प्रगटरूप कुछ नहि दिखता 'क्या प्रगट होगा?' लगे;
स्वभाव के विश्वास से निर्मल प्रगट होने लगे। ३०.
- ६१ सम्यग्दृष्टिवंत को वैराग्य एवं ज्ञान की-
शक्ति प्रगट ऐसी हुई निर्लेप गृहस्थ भी रहे। ३१.
- ६२ धारा उदय और ज्ञान की दोनो भिन्न परिणमत है;
अस्थिरता, पुरुषार्थ की कमझोरी के ज्ञाता रहे। ३१.
- ६३ सम्यग्दृष्टिवंत को बाहर नहीं अच्छा लगे;
इस जगत की न वस्तु कोई सुंदर-अच्छी है लगे। ३२.

- ६४ चैतन्य की महिमा एवं रस लगा, रस टूट गया;
बाह्य विषय में नहि रुचता, महिमा न किसी का रहा । ३२.
- ६५ अभ्यास अनादि बाह्य अस्थिरता कारण उसे—
स्वरूप में नहि रह सके, उपयोग बाहर आता उसे । ३२.
- ६६ परन्तु रस है नहीं, निःसार सब छिलका दिसे—
रस-कस शून्य भाव से बाहर खड़े लगते दिसे । ३२.
- ६७ 'जिसे लगी उसको है लगी' खेद अधिक करना नहीं;
परिणमनशील वस्तु है, कूटस्थ तो वह है नहीं । ३३.
- ६८ शुभ-अशुभ तो होंगे उसे छोड़ने यदि जायगा—
शून्य-शुष्क हो जायेगा, जल्दबाजी करना नहीं । ३३.
- ६९ मुमुक्षु जीव को उल्लास के कार्य रहे, संतोष नहीं;
'करना वह बाकी रह गया' खटका निरंतर लगा रहे । ३३.
- ७० ज्ञायक वस्तु नहि हाथ आती इसलिये उलझन रहे;
पर इधर-उधर जाता नहीं, वह मार्ग ढूँढ निकालता । ३३.
- ७१ मुमुक्षु जीव शरुआत में है उलझता, मूढ़ नहि बने;
सुख नहि मिला, बाहर पोसाता नहीं, पर मार्ग निकालता । ३४.
- ७२ पुरुषार्थ उठाये जितना वीर्य अंदर कार्य करे;
हठ नहि झटपट करूँ, जल्दबाजी नहीं मार्ग सहज । ३४.
- ७३ है अशुभ भाव अनादि का आदत हुई, वह सहज है;
शुभ बारम्बार करता, शुभ भी सहज हो जात है । ३५.
- ७४ स्वभाव है सचमुच सहज, ख्याल, खबर तो है नहीं;
उपयोग को सूक्ष्म करके स्वभाव पकड़ना चाहिये । ३५.
- ७५ जो रुचि पलटता है नहीं, उपयोग को पलटना चहे;
वह जानता नहि मार्ग को, रुचि पलट प्रथम यह क्रम है । ३६.
- ७६ 'अबद्ध हूँ', 'ज्ञायक हूँ मैं', विकल्प यह दुःखरूप लगे;
शांति नहि मिलती, विकल्प मात्र में दुःख भासता । ३७.

- ७७ पुरुषार्थ उठाकर वस्तु स्वभाव में लीन हो गया;
विकल्प तब छूट जात है, आनंद वेदन हो जात है। ३७.
- ७८ यदि आत्मा की प्राप्ति का दृढ निश्चय हो गया;
प्रतिकूलता में तीव्र एवं कठिन पुरुषार्थ करना पड़े। ३८.
- ७९ सद्गुरु के गंभीर, मूल, रहस्य भरपूर वाक्य का—
मंथन गहरा कर मुमुक्षु, मार्ग को ढूँढ निकालता। ३८.
- ८० सहज दशा विकल्प से नहीं बनाये रखनी पड़े;
यदि विकल्प से रखनी पड़े तो वह सहज है ही नहीं। ३९.
- ८१ प्रगट दशा रखने अलग पुरुषार्थ करना पड़ता नहीं;
पुरुषार्थ बढ़ने का है उसे दशा सहज वह बनी ही रहे। ३९.
- ८२ साधक दशा में भाव शुभ आता परन्तु छोड़ता;
नहि रुकता है वह वहाँ, लक्ष साध्य का नहि चूकता। ४०.
- ८३ मुसाफिर नगर एक छोड़ नगर दूसरे जब जात है;
बीच के नगर रुकता नहीं जाना जहाँ वहीं लक्ष रहे। ४०.
- ८४ सच्ची उत्कंठा-भावना हो जिस को वेदन सहित;
मार्ग उसे मिलता ही है, कारण जितना कार्य बने। ४१.
- ८५ रुचि सहित शुभभाव वह, वैराग्यमय-उपशम होत है;
रुचि रहित के भाव सब रुखे, चंचलता युक्त है। ४२.
- ८६ बालक बिछुड़ा मात से उससे पूछे 'है नाम क्या?'
तो एक 'मेरी माँ' ही बोले, पूछे यदि प्रश्न बहोत। ४३.
- ८७ ऐसे आत्मा की रुचि और ज्ञायक की है भावना—
'ज्ञायक स्वभाव', 'स्वभाव ज्ञायक' ही लगन बनी रहे। ४३.
- ८८ रुचि में लगे आवश्यक तो प्राप्ति बिना वह नहीं रहे;
चिंतन, मंथन, खटका चौबीस घंटा बना ही रहे। ४४.
- ८९ यदि प्रेम हो 'माँ' का उसे तो याद, खटका निरंतर रहे;
यदि आत्मा का प्रेम तो शुभ में भी आत्म खटक रहे। ४४.

- ९० 'माँ' का यदि है प्रेम तो परिवार समूह में बैठके—
आनंद में भी 'मेरी माँ' 'माँ मेरी' में मन लगा रहे। ४४.
- ९१ जिस प्रसंग में हो 'आत्मा मेरा' खटक रुचि रहे;
'आत्म' की खटक बनी रहे तो 'आत्म-माँ' जरूर मिले। ४४.
- ९२ अंतरतल को खोजकर नहि अटक शुभ परिणाम में;
या धारणा पुरुषार्थ थोड़ा में बहुत किया तू मान नहि। ४५.
- ९३ अज्ञानी को कुछ आ गया या धारणा से याद रहा;
अभिमान हो जाता, अगाध स्वरूप का ख्याल नहीं। ४५.
- ९४ बुद्धि विकास संतोष में जीव अटक जाता है सदा;
ज्ञानी लक्ष पूर्ण रखे, अंश में अटकता है नहीं। ४५.
- ९५ पर्याय पूर्ण प्रगट हुई स्वभाव है वह प्रगट हुआ;
इसमें नया कुछ नहीं ऐसा मान अभिमान से बचे। ४५.
- ९६ आत्मामय ही जीवन जीना उपयोग सूक्ष्म भले नहीं;
कार्य नहीं है कर सके, प्रतीति में ऐसा ही रहे। ४६.
- ९७ यह कार्य से है लाभ मुझ को, यही करना है मुझे;
ऐसी प्रतीति यदि रहे, वर्तमान में वह पात्र है। ४६.
- ९८ बंधन नहीं ध्रुव द्रव्य को बंधन कहा व्यवहार से;
मुक्त कहा, बंधा कहा, पर्याय में सब जानना। ४७.
- ९९ है लार में बंधी हुई मकड़ी चाहे तो छूट सके;
जंजाल में फंसा हुआ मनुष्य भी छूटा ही है। ४७.
- १०० वैसे जीव भी विभाव जाल में बंधा-फंसा हुआ;
प्रयत्न से मुक्त ही है ऐसा उसे ज्ञात हो सके। ४७.
- १०१ चैतन्य तो मुक्त ही है, आनंद, ज्ञान की मूर्ति है;
ज्ञायक मूर्ति है परन्तु स्वयं को वह भूल गया। ४७.
- १०२ विभाव जाल को बिछा उसमें ही वह फँस गया;
प्रयत्न करे तो मुक्त ही है द्रव्य बंधा है नहि कभी। ४७.

- १०३ विकल्प में पूरा दुःख लगे, शांति-सुख किंचित नहीं;
ऐसा यदि जीव को लगे तो मार्ग अंदर में मिले। ४८.
- १०४ विकल्प में दुःख लगे पर मंद विकल्प में शांति लगे;
विकल्प मात्र में दुःख लगे तो मार्ग अंदर में मिले। ४८.
- १०५ सारे दिन आत्मार्थ पोषण के कितने परिणाम है?
अन्य कितने? जांचकर पुरुषार्थ की ओर झुकना। ४९.
- १०६ मुख्य रूप से चिंतवन और कषाय के वेग में-
बहने से अटक कर गुणग्राही बनना चाहिये। ४९.
- १०७ सत की तू जिज्ञासा करे तो प्रयत्न बराबर चले;
तेरी मति सरल होकर आत्म परिणमित हो जायगी। ५०.
- १०८ संस्कार गहरे डाले यदि तो अंत में गति अन्यमें-
सत प्रगट होगा, इसलिये संस्कार गहरे डालना। ५०.
- १०९ आकाश-पाताल दोनो ही हो जाय एक मगर-
तू ध्येय को मत चूकना, प्रयत्न को मत छोड़ना। ५१.
- ११० आत्मार्थ को पोषण मिले वह कार्य को करना सदा-
जिस ध्येय पर आरूढ़ हुआ, पूर्ण कर, होगी सिद्धि भला। ५१.
- १११ शरीर करता शरीर का, आत्म आत्मा का कार्य करे;
दोनो भिन्न स्वतंत्र है, कार्य करे अपना सदा। ५२.
- ११२ 'शरीरादि है मेरे' तू ऐसा मान सुख-दुःख मत करे;
ज्ञाता ही बनकर तू रहे, शरीर तुझसे भिन्न ही है। ५२.
- ११३ शरीर लिये भव अनंता तेरे अरे! व्यतीत हुए;
संत कहते-आत्मा लिये यह जीवन तू अर्पण करे। ५२.
- ११४ निवृत्ति में प्रवृत्तिमय जीवन सुहाता नहीं उसे;
रोग मिटना हो तो मिटे, बाहर उपाधि लगे, नहि रुचे। ५३.
- ११५ अनुकूलता में नहि समझता, प्रतिकूलता में तो समझ;
किसी भी प्रकार समझ, वैराग्य से जा आत्ममें। ५४.

- ११६ नहि भावना निष्फल बने चैतन्य की, सफल ही रहे;
थोड़ा समय लगता भले, पर सफल होती भावना। ५५.
- ११७ जीव खो गया नहि देखता, खो गई वस्तु एक जहां—
मानो पूरा हो खो गया, घर-शरीर-पुत्रादि में रुक गया। ५६.
- ११८ विचार कर सारे दिन कहाँ अरे! तू है रुका रहा!
बाहर ही बाहर रुक गया, आत्म प्राप्ति कैसे वहाँ? ५६.
- ११९ मंथन करना तत्त्व का श्री गुरु मुख जो ग्रहण किया;
निवृत्ति में पठन करके लगन अपनी जागृत रखे। ५७.
- १२० ध्येय पूर्वक आत्म की परिणति में रस आ सके—
ऐसे विचार मंथन करे अंतर से मार्ग मिल सके। ५७.
- १२१ दृष्टि अपेक्षा ज्ञानी तो अत्यंत भिन्न राग से;
वह ज्ञान में है जानते कि राग है पर्याय में। ५८.
- १२२ स्थूल अपने परिणाम को यदि ज्ञान नहीं पकड़ सके;
सूक्ष्म अपने परिणाम को तो ज्ञान पकड़ेगा कहाँ? ५९.
- १२३ सूक्ष्म नहीं पकड़ सके स्वभाव कैसे पकड़ सके?
लक्ष्यकर स्वभाव पकड़े तो भेदविज्ञानी बने। ५९.
- १२४ संसार में भटका अनादि काल से सुख लालसा—
विषय पीछे दौड़ते अनंत दुःख सहता रहा। ६०.
- १२५ सुख बतलानेवाला मिला यदि शंका रख अटक गया;
उसकी उपेक्षा करके सच्चे स्वरूप से वंचित रहा। ६०.
- १२६ पुरुषार्थ बिना वह अटका, थोड़ा किया वहाँ से गिरा;
स्वरूप प्राप्त करने में जीव अनंत बार ऐसे अटका। ६०.
- १२७ पुण्य उदय से देह यह प्राप्त हुआ, सत्पुरुष मिला—
पुरुषार्थ यदि नहि करता तो किस भव में करेगा भला। ६०.
- १२८ हे जीव तू पुरुषार्थ कर ऐसा सुयोग एवं सच्चा—
स्वरूप बतलानेवाला तुझ को बार-बार नहि मिलता। ६०.

- १२९ जिस को लगा ताप सचमुच, संसार से उब-त्रास गया;
विभाव से है उब गया, उसको मार्ग जरूर मिलता। ६१.
- १३० 'रुचि अनुयायी वीर्य' रुचि जहाँ समय वहाँ कटता;
दे कारण जहाँ भी जैसा कार्य वैसा प्रगट होता ही है। ६१.
- १३१ ज्ञायक मंथन निरंतर रहे, दिन-रात यदि पीछे पड़े-
तो वस्तु प्राप्त हुए बीना कभी भी न रह सके। ६१.
- १३२ ज्ञायक लक्ष से यदि सुनता, चिंतवन करे, मंथन करे-
समकित कदाचित् हो नहि, सन्मुखता होती ही है। ६२.
- १३३ संस्कार दृढ़ डाले, उपयोग बदलकर सूक्ष्म करे;
चैतन्य ग्रहे, आगे बढ़े, समकित क्रमे प्राप्त बने। ६२.
- १३४ है बीज जैसा बोयगा वैसा ही वृक्ष होत है;
गुठली, अकौआ बीज से वृक्ष आम-अकौए का उगे। ६३.
- १३५ कारण रहे जैसा वहाँ कार्य भी वैसा ही बने-
पुरुषार्थ सच्चा है यदि फल सच्चा मिलता ही है। ६३.
- १३६ अंतर में चैतन्यतत्त्व नमस्कार करने योग्य है;
मंगल, सर्व में उत्तम, शरण भी वही एक ही है। ६४.
- १३७ परमेष्ठी पंच बाह्य में नमस्कार करने योग्य है;
आत्मा की करी साधना, मंगल, शरण, उत्तम वही। ६४.
- १३८ देव-गुरु एवं शास्त्र की महिमा तथा वाणी करे-
जागृत महिमा चैतन्य की वह उसमें निमित्त बने। ६५.
- १३९ संस्कार गहरे दृढ़ करने में भी वही निमित्त बने;
स्वरूप की प्राप्ति करने में भी उसे निमित्त कहा। ६५.
- १४० भक्ति उल्लास बाह्य में है आत्म का आनंद नहीं;
तल में से जो आये वही आनंद सच्चा मानना। ६६.
- १४१ शांति प्रत्येक प्रसंग में शांति सदा शांति ही है;
है लाभ दायक वह सदा शांति सदा रहेती सदा। ६७.

- १४२ गुरुदेव की वाणी मिली सौभाग्य वह अनुपम महा!
मार्ग मिला, वाणी मिली, मुमुक्षु परम सौभाग्य है। ६८.
- १४३ प्रातः-मध्याह्न प्रतिदिन तत्त्व उत्तम सुनने मिला;
सद्भाग्य दूसरा कौन सा इससे बड़ा होगा भला? ६८.
- १४४ अपूर्व श्रोता को लगे, पुरुषार्थ से आतम समीप-
आ जाय, टल जाय जनम, ऐसी अद्भुत वाणी, अहा! ६८.
- १४५ सौभाग्य श्रवण का मिला, सफल कर लेने योग्य है;
गुरुवाणी पंचम काल में भगवान विरह भूलाती है। ६८.
- १४६ रखना प्रयोजन आत्म का, रस आत्म में आये यदि;
विभाव का रस सत्वरे ही जाता है झर-झर वहाँ। ६९.
- १४७ सब कुछ आत्मा में रहा, बाहर कुछ भी है नहीं;
कुछ जानना तू चाहता, कर आत्मा की साधना। ७०.
- १४८ जहाँ पूर्णता प्रगट भई, लोक-अलोक ज्ञेयरूप बने;
जगत जगत में ही रहे, सब केवल में ज्ञात बने। ७०.
- १४९ जो जानता वह तत्त्व पूर्ण परिणमत सब को जानता;
और साथ में आनंद आदि प्रगट करे नवीनता। ७०.
- १५० है धन्य वह निर्गंथ मुनि केवल्य तलहटी जानना;
परिग्रह गुण-पर्याय का, विभाव बहोत है छूट गया। ७१.
- १५१ बाह्य परिग्रह देह का, प्रतिबंध रहित सहज दशा;
नहि बोध का भी प्रतिबंध, वृद्धिगत स्वरूप लीनता। ७१.
- १५२ अखण्ड को ग्रहण करके प्रमत अप्रमत में जो झूलते;
मुनिराज वह स्वरूप में निरंतर है जागृत रहे। ७२.
- १५३ मुनिराज है जहाँ जागते वहाँ जगत है सोता रहे;
है जगत जहाँ जागता मुनिराज वहाँ सोते दिखे। ७२.
- १५४ निवृत्त है द्रव्य सदा, अवलंबन दृढ़ता से लेकर-
भविष्य के विभाव से निवृत्त हो जाओ सभी। ७३.

- १५५ मुक्ति रही है हाथ में ऐसे महा मुनिराज को—
तीक्ष्ण भेद ज्ञान से प्रत्याख्यान होता है सदा। ७३.
- १५६ यदि तेरी गति विभाव में, शीघ्र चेतन में लगा;
स्वभाव आने से तुझे सुख और गुण वृद्धि सदा। ७४.
- १५७ विभाव में जाने से तुझे दुःख और गुण हानि बने;
इसलिये तू शीघ्रता से स्वरूप में गति कर अभी। ७४.
- १५८ चैतन्यधाम पहिचान लिया स्वरूप ऐसे सो गये—
कि बहार आना कभी भी अच्छा नहीं लगता उसे। ७५.
- १५९ जैसे महल अपने रहे चक्रवर्ती राजा सुख से—
बाहर निकलना यदि पड़े उसको सुहाता है नहीं। ७५.
- १६० वैसे विराजे महल में चैतन्य के जो जीव उसे;
आना बाहर कठिन लगे भाररूप लगता है उसे। ७५.
- १६१ 'रित उठवाना आंख से' ऐसा दुष्कर लगता है उसे;
स्वरूप जो आसक्त हुए आसक्ति नहीं बाह्य रहे। ७५.
- १६२ तस्वीर खींची जाती जहाँ चेहरे के जैसे भाव हो;
कागज पर वह चित्रित बने, चित्रित करना नहीं पड़े। ७६.
- १६३ कर्म उदयरूप चित्रकारी सामने जब आती है;
तो समझना जो भाव किये वैसे ही यह चित्रण हुआ। ७६.
- १६४ यह आत्मा प्रवेशकर कर्म में कुछ करता नहीं;
है भाव के अनुरूप ही चित्रण वहाँ हो जाता सही। ७६.
- १६५ दर्शन-ज्ञान-चरित्ररूप परिणमन, अवलंबन करे—
संवर-निर्जरा होगी, विद्यमान होगा वहाँ प्रगट। ७६.
- १६६ एकत्व और विभक्त की नहि बात रुची है कभी—
भूसी है कूटता बाहर, कस जहाँ वहाँ नहीं खोजता। ७७.
- १६७ भूसी कूटता रागादि की दाना नहीं है निकलता;
एकत्व बुद्धि पर में रही, तू तोड़ तो कार्य बने। ७७.

- १६८ जात्यंतर लीला स्वरूप की, मुनिराज चैतन्य बाग में—
क्रीडा करते-करते हुआ, फल कर्म का है नष्ट करे। ७८.
- १६९ आसक्ति बाह्य तोड़कर स्वरूप मंथर हो गये;
स्वरूप में लीन हो गये स्वरूप उनका आसन है। ७८.
- १७० स्वरूप ही निद्रा उसे, स्वरूप ही आहार है;
स्वरूप में लीला करे, स्वरूप में विचरण करे। ७८.
- १७१ शुद्ध स्वरूपी आत्म में विकार प्रविष्ट नहीं हुआ;
ज्ञानरूप चैतन्य के दर्पण में वह प्रतिबिंब है। ७९.
- १७२ वैराग्य-ज्ञान की शक्ति अचिंत्य से पुरुषार्थ की—
धारा प्रगट कर, दृष्टि यथार्थ से आजा उपर अब। ७९.
- १७३ चैतन्य निर्मल है सदा, नहि कर्म के उदय वहाँ;
सत्ता, अनुभाग तथा विकल्प आदि भिन्न सदा। ७९.
- १७४ निषेध-विधि जाल को तू छोड़ अंदर जा अभी;
'बंधा हूँ मैं, बंधा नहीं' छोड़ कर निर्विकल्प बने। ८०.
- १७५ स्वभाव से निर्मल ऐसे स्फटिक में फूल योग से—
रंग दिखते, वास्तव में स्फटिक नहीं रंगा गया। ८१.
- १७६ स्वभाव से निर्मल ऐसे आत्म में क्रोधादि तो—
दिखायी दे, वास्तव में आत्म सदा भिन्न रहे। ८१.
- १७७ नहि मलिनता स्वभाव में स्वभाव बदलाता नहीं;
परमाणु जैसे पलटकर वर्णादि रहित नहीं होत है। ८१.
- १७८ पर से किया एकत्व उसको तोड़ने की यह बात है;
वास्तविक प्रवेश अंतर में करे तो पृथक हो सके। ८१.
- १७९ दर्पण भाँति स्वच्छ हूँ, विकल्प से न मलिन मैं;
निर्विकल्प, आनंदघन, ज्यों का त्यों मैं पवित्र हूँ। ८२.
- १८० विकल्प से मलिन मान कर भ्रमणा में ठगा गया;
दर्पण की भाँति स्वच्छ जाति से तू मान तुझे। ८२.

- १८१ निर्मल भंडार पहिचान तो पर्याय निर्मल प्रगटती;
अंतर में है ज्ञान और आनंदादि निर्मलता भरी। ८२.
- १८२ अंतर में यह आत्मा मंगल स्वरूप ही है सदा;
मंगल के आश्रय से पर्याय मंगल प्रगटती। ८३.
- १८३ है आत्मा मंगल, उत्तम, नमन करने योग्य है;
प्रतीति-ध्यान उस का करे तो मंगल उत्तम बने। ८३.
- १८४ 'मैं उदासी ज्ञाता ही हूँ' निवृत्त दशा में ही शांति है;
जाने अपन, अकर्ता बने तो साधक दशा प्रारंभ हो। ८४.
- १८५ दृष्टि यदि दे द्रव्य पर तो समकित-ज्ञान प्रगटता;
प्रगटे तक और बाद में देवादि महिमा साधन तुझे। ८५.
- १८६ जो जिस में उसमें से वह सदा ही है आ सके;
जिस में न हो उसमें से वह कभी भी नहीं आ सके। ८५.
- १८७ अखण्ड द्रव्य के आश्रय से सब कुछ है प्रगट होता;
देव-गुरु मार्ग बतलाते है, समकित नहि कोई दे सके। ८५.
- १८८ प्रतिबिंब पड़े दर्पण में निर्मलता तब वैसी ही है;
विभाव समय भी आत्म में निर्मलता भरी पड़ी है। ८६.
- १८९ निर्मलता चैतन्य की दृष्टि न तेरी देखती;
विभाव तन्मय हो जाती, वह तन्मयता तू छोड़ दे। ८६.
- १९० प्रयोजन पर चिंता का क्या? मैं तो अकेला हूँ सदा;
ऐसा ही ज्ञानी मानते, चिंता नही पर की करे। ८७.
- १९१ भूमिकानुसार भाव शुभ आते परन्तु अंतर में-
एकाकी पने की प्रतीतिरूप परिणति निरंतर रहे। ८७.
- १९२ नहि लेप है, जन्म नहीं, नहि मरण चैतन्य देव को;
चेतन सदा चेतन ही है, नहि तत्त्व नवीन प्रगट बने। ८८.
- १९३ द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से कोई भी उदय में निर्लेप है;
काहे की चिंता? तत्त्व में कुछ प्रविष्ट हो ही नहीं सके। ८८.

- १९४ मुनिराज को स्वरूप में रमणता जागृत है;
आनंद-ज्ञानादि गुणों से स्वरूप तो निर्मित है। ८९.
- १९५ पर्याय में समता प्रगट, न विकल्प शत्रु-मित्र के;
निर्मान है, यदि देह जाय न माया होती रोम में। ८९.
- १९६ हो सोना या हो तिनका दोनों ही उसको समान है;
संयोग हो अनुकूल या प्रतिकूल है कुछ भेद नहीं। ८९.
- १९७ अनुकूल में आकर्षित नहि, प्रतिकूलता नहि खेद है;
आगे बढ़े, समरसपना विशेष प्रगट होता रहे। ८९.
- १९८ अभिलाषरूप क्षुधा से दुःखीत मुसाफिर अरे!
विषयों के लिये तरस नहीं, नहि भूख वहाँ शांत बने। ९०.
- १९९ अमृतफलों का वृक्ष अंतर में लगा, देख जरा;
फल मधुर के रस पान से, तृप्त तुरंत हो जायगा। ९०.
- २०० चैतन्यचंद्र आतमा अवलोकते मुनिराज को—
वैराग्य है उछल पड़े, नहि थाक, अघाते ही नहीं। ९१.
- २०१ रोगमूर्ति यह शरीर के रोग सभी पौद्गलिक है;
भिन्न रहे, जो रोग है संसार, वह पर्याय है। ९२.
- २०२ 'मैं सहज ज्ञायकमूर्ति हूँ', यह भावना, मंथन रहे;
यह मनन, स्थिर परिणति से संसाररोग नष्ट बने। ९२.
- २०३ दृष्टि सदा ही ज्ञानी की है द्रव्य सामान्य रहे;
धारा सदा भी भेदज्ञान की है सतत बहती रहे। ९३.
- २०४ ध्रुव तत्त्व में एकाग्रता से पर्याय निर्मल प्रगटती;
ध्रुव तत्त्व में एकाग्र तो विभाव नहीं रहेता वहीं। ९४.
- २०५ मुनि असंगरूप रहकर आतमा की करते साधना;
स्वरूप में गुप्त रहे, भावलिंग है स्वसंवेदने। ९५.
- २०६ है सार एक ही आतमा अन्य सब ही निःसार है;
चिंता सब तू छोड़कर एक आत्म की चिंता करे। ९६.

- २०७ कुछ भी तू करके चेतन स्वरूपी एक आतम को पकड़;
संसाररूप यह मगर के तू मुँह से तब छूट सके। ९६.
- २०८ पर पदार्थ को जानने से उपाधि नहीं आती ज्ञान में;
तीन काल-लोक को जानने से सर्वज्ञता की सिद्धि बने। ९७.
- २०९ वीतराग हो जाय उस को स्वभाव पूर्ण है प्रगटता;
वहीं ज्ञान की परिपूर्णता-सर्वज्ञता सिद्ध बने। ९७.
- २१० दृष्टि एवं ज्ञान तू सदा ही यथार्थ रखे;
अपने ही को तू भूल गया, मिले गुरु दरकार की नहीं। ९८.
- २११ रुचि हो यदि जीव को गुरु वचनो का विचार करे;
स्वीकार करके उसका चैतन्य को पहिचानता। ९८.
- २१२ है पंखी का मेला, हुए इकट्ठे, अलग हो जायेंगे;
शाश्वत एक, अध्रुव सब, कल्याण कर लेना तुझे। ९९.
- २१३ आदि नहीं, नहि अंत है, हूँ मुक्त, शुद्ध ही मैं;
उस पर यदि दृष्टि करे, पर्याय शुद्ध प्रगट बने। १००.
- २१४ 'मैं मुक्त हूँ, पर्याय को आना यदि तो आयगी';
पर्याय उपेक्षित रहे तो शुद्ध होकर प्रगट बने। १००.
- २१५ समकित्तदृष्टिवंत को निःशंकता ऐसी रहे;
ब्रह्मांड चौद उलट जाय पर अनुभव शंका नहीं पड़े। १०१.
- २१६ सर्वोत्कृष्ट है आतमा आश्चर्यकारी भी रहा!
वस्तु नहीं जग में उँची, कोई उसे नहि ले जा सके। १०२.
- २१७ जो छूट जाती है वही तो वस्तु तुच्छ ही है;
रे! छोड़ने से उसको डर क्यों तुझे लगता रहे। १०२.
- २१८ सम्यग्दृष्टिवंत को ऐसी रहती है भावना;
स्थिर सम्पूर्ण बनूँ, अन्य नहीं कुछ चाहिये। १०३.
- २१९ 'मैं शुद्ध हूँ' स्वीकार से रचना शुद्ध ही बने;
पर्याय की, 'दृष्टि समान ही सृष्टि बनती सदा।' १०४.

- २२० यह आत्मा त्रिकाल ज्ञायक वेश को धारण करे;
परमार्थ ज्ञायक को कभी पर्याय वेश नहीं होत है। १०५.
- २२१ 'नहि मुनि, केवलज्ञानी, या सिद्ध' कुछ भी आत्मा में नहीं;
ज्ञायक सदा ज्ञायक रहे, पर्याय अपेक्षा है नहीं। १०५.
- २२२ है आत्मा तेरा ही अपना प्राप्त करना सुगम है;
पर कभी न अपना बन सके, आकुलता बढ़ती रहे। १०६.
- २२३ शाश्वत शुद्धि धाम ऐसा आत्मा बलवान है;
दृष्टि उसकी प्रगट हुई, पर्याय शुद्ध प्रगट भई। १०७.
- २२४ विकल्प भेदों से कभी पर्याय शुद्ध प्रगट नहीं;
ग्रहण करना एक को, दृष्टि सहित ज्ञान विवेक से। १०७.
- २२५ नहि जगत में है कोई वस्तु बढ़कर चैतन्य से;
तू स्थिर हो, निवासकर, चैतन्य में, तुझ आत्म में। १०८.
- २२६ है आत्मा समृद्ध, अनंत गुण, दिव्य ज्ञान से;
चैतन्य अहो! भरपूर है ऋद्धि, समृद्धि, अगाध से! १०८.
- २२७ है आत्मा तीरथ परम पवित्र उसमें स्नान कर;
भरपूर है पवित्रता से अंदर में उपयोग लगा। १०९.
- २२८ हो जा सराबोर गुणों में कर स्नान आत्म तीरथ में-
कि शुद्ध हो पर्याय और मलिनता नहीं रहे। १०९.
- २२९ है परम पुरुष निकट तेरी पर तू ने देखा नहीं;
तुझ दृष्टि है भटक रही बाहर सदा ही बाहर में। ११०.
- २३० परमात्मा इस जगत में सर्वोत्कृष्ट कहलाता सदा;
स्वयं तू ही परमात्मा, उत्तम ही तेरा आत्मा। १११.
- २३१ विभाव हुए, काल कितना भी गया तत्त्व अखण्ड है;
पारिणामिक भाव, गुण कोई नहीं खण्डित हुआ। ११२.
- २३२ मुनि अंतर्मुहूर्त में स्वभाव में डुब जाते हैं;
निवास अंतर महल में, बाहर नहीं अच्छा लगे। ११३.

- २३३ अंदर रहे अनमुभूति में, बाह्य रहे चिंतन करे;
किसी और प्रकार का मुनि बोझ नहीं लेते कभी। ११३.
- २३४ साधकदशा बढ़ती गई, द्रव्य से कृतकृत्य है;
पर्याय में भी मुनि अत्यन्त कृतकृत्य हो गये। ११३.
- २३५ भगवान का जिसे प्रेम है भगवान देखता रहे;
चैतन्य का प्रेमी सदा 'चैतन्य', 'चैतन्य' रटता रहे। ११४.
- २३६ गुण भेद पर दृष्टि करे विकल्प ही है उपजता;
नहि होती है निर्विकल्पता, समरस भी नहीं हो सके। ११५.
- २३७ चैतन्य सामान्य से ग्रहे तो मुक्ति मारग प्रगटता;
भिन्न भिन्न ग्रहण करे अशांति को उत्पन्न करे। ११५.
- २३८ यह आत्मा संयोग में हो कोई भी प्रकार के-
वह अपनी शांति सच्ची प्रगट कर सकता वहीं। ११६.
- २३९ चलना निरालंबन वह वस्तु स्वभाव है रहा-
आश्रय किसीके बिना चैतन्य में तू जा चला। ११७.
- २४० आत्मा सदा ही है अकेला, स्वयंभू भी आप है;
मन की गति मुनिराज की निरालम्ब ही जानना। ११७.
- २४१ सम्यग्दर्शन, ज्ञान की, चारित्र की जो चाल है-
निरालम्ब प्रगट हुई नहि कोई उसे रोक सके। ११७.
- २४२ परमात्म का ध्यान करे तो मोक्षपद प्राप्त करे;
शुद्धात्म का ध्यान धरे उसे शुद्धता की प्राप्ति है। ११८.
- २४३ गुरुदेव वाणी सुनकर जिस का हृदय है बिंध गया;
लगन लगी आत्मा की जिसे, अन्यत्र चित लगता नहीं। ११९.
- २४४ लगन लगी आत्मा की जिसे, नहीं अन्य उसको चाहिये;
परमात्मा ही चाहिये दूसरा नहीं कुछ चाहिये। ११९.
- २४५ परमेष्ठी का ध्यान करे शांति मगर आती नहीं;
टेठ तल से जो आ सके शांति नहीं वह मिल सके। १२०.

- २४६ फलफूल मनहर वृक्ष सम गुणनिधि तू अद्भुत है;
आश्रय उसके यदि रमे, शांति सच्ची प्रगट करे। १२०.
- २४७ आचार्य करुणा करके जीव को जगाते है रहे;
तू जाग रे! भाई, नींद में दिशा नहीं सूझती तुझे। १२१.
- २४८ तू भूल से भटका फिरा, स्वतंत्र है भूल करने में—
परिभ्रमण के समय भी तू शुद्ध है, देख भला। १२१.
- २४९ महिमावंत को बतला रहे गहराई से अंदर उतर—
पहिचान कर, दुःख नष्ट कर, सुखी परम होगा भला। १२१.
- २५० तू आत्म में तो जा अभी तेरा भटकना मिट जायगा;
जाना जिसे है आत्म में आधार आत्मा का ही उसे। १२२.
- २५१ चेतनरूपी आकाश रम्यता सदा जयवंत है;
यह रम्यता, आकाश से अलग कोई प्रकार है। १२३.
- २५२ आकाश में है चंद्र की, तारा मण्डल की रम्यता;
चैतन्य के आकाश में गुण अनेक की है रम्यता। १२३.
- २५३ प्रत्यक्ष स्वसंवेदन ज्ञान से वह रम्यता ज्ञात बने;
स्वानुभूति की रम्यता भी ओर है, अनुपम है। १२३.
- २५४ आत्म शुद्ध स्वरूप को अनुभव पूर्वक बतला रहे—
गुरुदेव के वचन सभी रामबाण जैसे मानना। १२४.
- २५५ इस वचन से जो मोह वह सत्वर है नष्ट बने;
और शुद्धात्म तत्त्व का प्रकाश है प्रगट बने। १२४.
- २५६ है आत्म निवास न्यारा, उसमें न वाणी, पुद्गल रहे;
चैतन्य तो चैतन्य में ही निवास करता है सदा। १२५.
- २५७ ज्ञान लक्षण आत्मा का गुरुदेव बतलाते है तुझे;
उस लक्षण से अंतर जा कर आत्मा को ढूँढ ले। १२५.
- २५८ पर्याय दृष्टि छोड़कर द्रव्य पर दृष्टि करे—
मार्ग मिले, लगन लगे तो पुरुषार्थ होता ही है। १२६.

- २५९ उब जाय अंतर से यदि थकान लगे सचमुच तो—
पीछे मूड़े बिना न रहे थकान लगे सचमुच तो। १२६.
- २६० नहि कोई किसी का कर सके, विभाव भी तेरा नहीं;
बाह्य संयोग तो अरे! तेरे कभी नहि हो सके। १२७.
- २६१ ज्ञाता ही है आत्मा, धारा ज्ञातृत्व न कोई रोक सके;
हो रोग या उपसर्ग आत्मा निरोग-निरुपसर्ग है। १२८.
- २६२ उपसर्ग में तीन पांडव ने लीन होकर केवल्य लिया;
है अटकता अपने ही से नहि कोई अटकाता उसे। १२८.
- २६३ भगवान आज्ञा बाहर यदि पाँव तू रखे डूब जायगा;
ज्ञान कर अनेकांत का तो साधना यथार्थ बने। १२९.
- २६४ चक्रवर्ती है चैतन्य उसमें से रत्न की प्राप्ति बने;
गुण अनंत की ऋद्धि प्रगट होती अपने में ही से। १३०.
- २६५ आना नहीं बाहर जरा, शुद्धोपयोग में रहना सदा;
संसार से बचना यदि तो मार्ग शुद्धोपयोग ही है। १३१.
- २६६ शुद्धोपयोग में न रह सके, प्रतीति रखना यथार्थ तू;
प्रतीति में यदि फेर पड़ा संसार खड़ा तो जानना। १३१.
- २६७ लेंडीपीपर घुटाई से चरपराहट होती प्रगट;
स्वभाव की घुटाई से गुण प्रगटते है अनंत। १३२.
- २६८ चैतन्य शोभा निहारने ज्ञानी सदा आतुर रहे;
वह परम पुरुषार्थी महा ज्ञानी दशा कैसी अहो! १३३.
- २६९ अंदर गये बाहर कहीं आते नहीं है जो कभी;
है दिवस वह धन्य जब नहि बाहर में आना पड़े। १३३.
- २७० विभाव सर्वपर विजय पाकर के मुनिराज ने—
साम्राज्य प्रवज्यारूप में विजय पताका लहरा रहे। १३४.
- २७१ नहि दोष एक-एक को ढूँढ करके टालना पड़े;
अंतर दृष्टि स्थिर करे सर्वदोष का चूरा बने। १३५.

- २७२ आत्मा अनादि अनंत गुणरत्नो का पिण्ड है;
अंतर दृष्टि स्थिर करे गुणरत्नाकर प्रगट बने। १३५.
- २७३ सम्यक्त्व से पूर्व भी विचार से निर्णय हो सके;
'यह आत्मा' ऐसा निर्णय पक्का है हो सके। १३६.
- २७४ अनुभूति अभी हुई नहीं तो भी निर्णय तो होत है;
विकल्प सहित का निर्णय भी पक्का निर्णय हो सके। १३६.
- २७५ चेतन परिणति ही जीवन है बाह्य सब अनंत बार मिला;
यह नहि अपूर्व कभी अंतर पुरुषार्थ ही अपूर्व है। १३७.
- २७६ माना सर्वस्व बाह्य में, पलटकर उसको अभी-
स्व में सर्वस्व मानना पलटाकर पुरुषार्थ को। १३७.
- २७७ रुचि रखना, बढ़ाते रहो, भेदज्ञान इससे हो सके;
'ज्ञायक' की रुचि हो यदि पुरुषार्थ पर झुकाव बढ़े। १३८.
- २७८ गुरुदेव ने है बहुत दिया, समझाते प्रकार अनेक से;
गुरुदेव के वचनमृतो को विचारना प्रयोग से। १३८.
- २७९ गहराई से लगनी लगा, पुरुषार्थ से वस्तु मिले;
न अनादि से लगन लगी, आनंद-ज्ञान नहि मिले। १३९.
- २८० 'है, है' अस्ति ऐसा तुझे ख्याल में तो आती रहे;
'ज्ञाता ही ज्ञाता' तू रहे, ज्ञाता ही रहता तू सदा। १४०.
- २८१ मात्र 'सत्' नहि वर्तमान में त्रिकाल 'सत्' बतला रहा;
पर तू अरे! उसकी अस्ति को 'वर्तमान अस्ति' मानता। १४०.
- २८२ जो वर्तमान में है वही त्रैकालिक होता ही है;
त्रिकालि की श्रद्धा नहीं, सब कुछ किया काल अनंत में। १४०.
- २८३ अज्ञानी को अनादि से विभाव का अभ्यास है;
मुनिराज को स्वभाव का अभ्यास ही वर्तता रहे। १४१.
- २८४ स्वयं ने सहज ही दशा अपनी है प्राप्त की;
उपयोग बाहर जाय कि सहज अपनी ओर ढले। १४१.

- २८५ मुनिराज को बाहर आना बोझ-उपाधि लगे;
मुनिराज को अंतर ही में सहज समाधि रहे। १४१.
- २८६ यह आत्म को पहिचान कर उर्ध्व रखना चाहिये;
यदि होय जिज्ञासा सच्ची प्रयास तो होता ही है। १४२.
- २८७ स्वरूप शोध में तन्मय बन, विकल्प जाल से हट कर—
आत्म सन्मुख ही अभ्यास करते गुण विकसित होत है। १४३.
- २८८ सत्य समझने देर लगे पर आनन्द, मुक्ति फल मिले;
एकाग्र आत्मा में बने तो आनंद झरता है उसे। १४४.
- २८९ है राग का जीवन, उसको नहि आत्म में जाना बने;
यदि राग को दे मार तो अंतर में वह जा सके। १४५.
- २९० द्रव्य न कोई कभी अपने स्वरूप को है छोड़ सके;
आत्म तत्त्व है शुद्ध परम, नहि क्षायोपशमिक उस में। १४६.
- २९१ स्वभाव को पहिचान तू, गुण रत्नमाला है वहाँ;
त्रिकाल लक्षण पहिचान प्रतीति भी कर वहाँ। १४६.
- २९२ एक आत्मा के ज्ञान में सब ज्ञान जाता है समा;
जाने एक तो सब जानता, जाने न मूल निष्फल सभी। १४७.
- २९३ चैतन्य लोक अंदर जा गुण अनंत शोभा से भरे;
निर्विकल्प हो अंदर जा, निहार तू शोभा वहाँ। १४८.
- २९४ 'रागी हूँ या नहीं' विकल्प पार शुद्ध तत्त्व हूँ;
अतिक्रान्तकर नयचक्र को चैतन्य है विराजता। १४९.
- २९५ दृष्टि सच्ची शुद्ध तत्त्व की प्रगट करके जो उसकी—
नौका में यदि बैठ गया सचमूच ही वह तर गया। १५०.
- २९६ एकदम पुरुषार्थ से गहरे स्वभाव में जा तू उतर—
अंतर से खटका न जाय वीतरागता प्रगटती नहीं। १५१.
- २९७ बाहुबली विकल्प में अटके न वीतराग हुअे;
किरकिरी समाती नहि आँख में, विभाव पुसाता नहीं। १५१.

- २९८ संज्वलन कषाय का अति सूक्ष्म अंश विद्यमान है;
तब तक पूर्ण ज्ञान—केवलज्ञान प्रगटता है नहीं। १५१.
- २९९ पहिचान करके आत्म की स्वरूप में यदि रमणता-
प्राप्त करे, उसको ही है प्रायश्चित्त कहला गया। १५२.
- ३०० दरबार में जाना जिसे तो आसपास घूमता रहे;
और फिर वह एकबार तो घूस जाता है अंदर। १५३.
- ३०१ स्वरूप लिये देवगुरु समीपता जो रख सके—
अंदर जाना सीखता तो निज घर को वह देख ले। १५३.
- ३०२ जिसे जिस की रुचि रहे, वही ही सुहाता है उसे;
बाधारूप दूसरा लगे, दूसरा सुहाता नहीं उसे। १५४.
- ३०३ 'कल में करूँगा, कल करूँ' वादे नहीं होते कभी;
प्रयास अंतर बना रहे, अब ही करना है मुझे। १५४.
- ३०४ यदि भेदज्ञान की विशेषता है उसे चाहे अरे!
जैसे भी परिषह आये, आत्मा ही विशेष लगे। १५५.
- ३०५ है एक ही करना तुझे, एकत्व पर से तोड़ना;
तन्मयता पर की तोड़ना, है एक तेरा कार्य है। १५६.
- ३०६ अभ्यास है अनादि का पर साथ एकाकार का;
गुरुदेव तो बिलकुल स्पष्ट मार्ग को बतला रहे। १५६.
- ३०७ पुरुषार्थ करके स्वयं पर से भिन्न है जो आत्मा—
अनंत गुण परिपूर्ण है, गुण उसमें से है प्रगटता। १५६.
- ३०८ बड़ो की आज्ञा मानना, उन से डरे, यह तो अपन—
अवगुण से डर समान है, रागादि दबते है इसे। १५७.
- ३०९ उस के बिना कषाय वेग में वह जाना संभव है;
अवगुण तू अपने स्वयं का जान सकेगा तो नहीं। १५७.
- ३१० बड़ो के शरण से दोष का स्पष्टीकरण है हो सके;
होते प्रगट गुण और गुणनिधि की पहिचान बने। १५७.

- ३११ सुख अंदर में, तू बाहर व्यर्थ है प्रयत्न करे;
जल नहि है मरिचिका में, बाहर में सुख है नहीं। १५८.
- ३१२ गुरु तुझे गुण विकास की कला सच्ची बतलायेंगे;
तू गुरु आज्ञा में रहे वह तो परम सुख है तुझे। १५९.
- ३१३ कर्म जनित विभाव में है जीव तो दब ही रहा;
तू गुरु आज्ञा में रहे, कर्म दबकर गुण प्रगटते। १५९.
- ३१४ कमल कीचड़-पानी से पृथक रहता है सदा;
आत्मा भी भिन्न कर्म से त्रिकाल वह एक नहि बना। १६०.
- ३१५ तुझ गुण न पर में मिल सके, शुद्ध द्रव्य को पहिचान तू;
अस्तित्व को पहिचानने से पृथकत्व ही ज्ञात रहे। १६०.
- ३१६ संसार से भयभीत को आचार्य का उपदेश है;
गुरु आशय को समझने का शिष्य है प्रयत्न करें। १६१.
- ३१७ शंका नहीं, सत्य ही है, गुरु बात में संदेह नहीं;
समझ नहीं सकता हूँ मैं वह मेरी समझ का दोष है। १६१.
- ३१८ द्रव्य सदा निर्लेप है ज्ञाता भिन्न है तैरता;
पहिचान-परिणमन करे तो प्रगटती निर्मलता। १६२.
- ३१९ स्फटिक में प्रतिबिंब किंतु स्फटिक सदा निर्मल है;
जीव में विभाव ज्ञात पर वह निर्मल है, निर्लेप है। १६२.
- ३२० ज्ञायक रूप परिणमित है किंतु पर्याय निर्मल ही रहे;
विभाव जो सब ज्ञात हो वह ज्ञेय, मैं ज्ञायक सदा। १६२.
- ३२१ चेतन स्वरूपी, गुणवंत, चमत्कृत मैं पदार्थ हूँ;
ज्ञानादि गुण अनंत है, तुलना न अन्य पदार्थ से। १६३.
- ३२२ निर्मलरूप परिणमित होता, जैसे कमल पंखुरि से-
वैसे ही आतम गुण रूपी अनंत पंखुरियों से खिले। १६३.
- ३२३ पूर्ण निरोगी है आत्मा, पर्याय में है रोग सभी-
चैतन्य भावना औषधि से पर्याय के है रोग मिटे। १६४.

- ३२४ यह भावना शुद्धरूप है शुभ-अशुभ परिणमन नहीं;
उससे ही अवश्य तेरे संसार रोग मिट जात है। १६४.
- ३२५ वचनमृतों को समझ, शुद्ध भावनारूप औषध को-
सेवन करे भवरोग मिटे, इसलिये उसे निमित्त कहे। १६४.
- ३२६ जिस को नहि महिमा अहा! चैतन्यदेव का आ रहा;
अंतर में वसवाट करना दुर्लभ है उसको रहा। १६५.
- ३२७ मुक्त स्वरूपी आत्म पहिचान से पांच प्रकार के-
परावर्तन से है छूटता, तू ही मुक्ति का दाता रहा। १६६.
- ३२८ तुझ पर तू दृष्टि रखे निरंतर जनम मिटे;
तेरी शरण तू आ यदि जन्म-मरण मिट जायेंगे। १६६.
- ३२९ वाणी और विभाव से भिन्न तथापि गुरु वचन से-
ज्ञात हो सके उस तत्त्व की अचिंत्यता गुरु बतलाते है। १६७.
- ३३० अपूर्व, अगाध, अचिंत्य तत्त्व गुरु बतलाते रहे;
शुभ-अशुभ से दूर चेतन तत्त्व अपने में ही रहे। १६७.
- ३३१ गुरु वचन से इस प्रकार जो भेदज्ञान ऐसा करे-
जो शुद्ध दृष्टिवान हो यथार्थ दृष्टि होत है। १६७.
- ३३२ अंश बढ़ाकर लीनता के मुनि अधिक लीन होत है;
कैवल्य को प्रगट करके वह परिपूर्ण मुक्त बने। १६७.
- ३३३ समकित्त में जीव चैतन्य के महल का स्वामी बन गया;
अस्थिरता कचरा निकाल मुक्त बनेंगे अल्प समय में। १६८.
- ३३४ तीव्र यदि पुरुषार्थ है अल्प समय लगता उसको;
है मंद यदि पुरुषार्थ तो अधिक समय लगेगा उसे। १६८.
- ३३५ विभाव परावर्तन पाँच में नहि कहीं भी विश्रान्ति मिले;
चैतन्यगृह सच्चा अरे! विश्रान्तिगृह तू मानना। १६९.
- ३३६ मुनिराज निर्विकल्प में प्रवेशकर विश्राम करे;
आये नहीं बाहर कि वह जाते तूरत अंदर चले। १६९.

- ३३७ चैतन्य को कर ग्रहण तू विभाव से परिमुक्त को—
परमात्म को तू ग्रहण कर हो लीन आसक्ति छोड़कर। १७०.
- ३३८ तलवार दो न समा सके यदि म्यान एक ही होत तो;
चैतन्य और संसार की महिमा न साथ रह सके। १७१.
- ३३९ क्षणिक करे वैराग कोई अशरण यह संसार है;
अनित्य है—उसको कभी चैतन्य समीपता नहि होत है। १७१.
- ३४० चैतन्य की महिमा पूर्वक विभाव की महिमा छूटे;
संसार की महिमा न रहे, चैतन्य समीप वह जात है। १७१.
- ३४१ चैतन्य जो तू वस्तु है, अमूर्त, महिमावंत है;
पहिचान करके उसकी महिमा करनी चाहिये। १७१.
- ३४२ राजमहल है यदि पा लिया, बाहर आये तो खेद हो;
सुखधाम को प्राप्त किया, बाहर आने में खेद है। १७२.
- ३४३ शांति एवं आनंद का जो स्थान वह आत्मा ही है;
नहि दुःख नहि मलिनता ऐसी दृष्टि ज्ञानी की रहे। १७२.
- ३४४ किरकिरी नहि समाती आंख में उसी प्रकार विभाव का—
एक अंश भी हो यदि—स्वभाव की पूर्णता नहीं। १७३.
- ३४५ जब तक अल्प प्रमाण भी संज्वलन कषाय है;
तब तक नहीं वितरागता, कैवल्य भी तब तक नहीं। १७३.
- ३४६ जिस को नहीं घर मिल सका, मनुष्य को बाहर खड़े—
बाहर की वस्तु-धमाल को देखने पर अशांति ही रहे। १७४.
- ३४७ परन्तु जिसे घर मिल गया, घर में रहते बाहर की—
वस्तु-धमाल देखते भी शांति उसे रहती सदा। १७४.
- ३४८ चैतन्य घर प्राप्त हुआ, प्राप्त दृष्टि जिसे हो गई—
उपयोग बाहर जाय पर तब भी उसे शांति रहे। १७४.
- ३४९ नंदनवन वृक्ष अनेक में जैसे विविध प्रकार के—
पत्र-पुष्प है खिलते फलादि खिल उठते। १७५.

- ३५० वैसे ही साधक आत्म को चैतन्यरूप नंदनवन में—
गुणो अनेक की विविध पर्यायें है खिलती रहे। १७५.
- ३५१ मुक्त दशा परमानंद का मंदिर है वहाँ वास यदि—
तो मुक्त वह आत्म में आनंद अनंत परिणमित हो। १७६.
- ३५२ यह मोक्षरूप मंदिर का जो घाट वह साम्यभाव है;
ज्ञायकरूप परिणमन से स्थिरता-साम्यता है प्रगटती। १७६.
- ३५३ स्वानुभूति नंदनवन में आनंदमय जो विहरता—
उस साधक को बाहर आने पर कहीं भी रस नहीं। १७७.
- ३५४ नहि ध्यान सच्चा होता पहले, ज्ञान ही सच्चा होत है—
कि इन शरीर, स्पर्शादि से सब से सदा मैं पृथक हूँ। १७८.
- ३५५ विभाव-शुभभाव उँचा होता वह मैं हूँ नहीं;
मैं तो विभावादि सब से भिन्न ज्ञायक तत्त्व हूँ। १७८.
- ३५६ रे, ध्यान तो साधक का कर्तव्य है, पर वह यदि—
हो नहि सके, श्रद्धा बराबर-अवश्य तो तू कर सके। १७९.
- ३५७ तुझ में ही शक्ति अगाध भरी पड़ी है, अहा!
उसका यथार्थ श्रद्धान अवश्य करने योग्य है। १७९.
- ३५८ उपयोग अंतर जाय वहाँ नयपक्ष सब छूट जात है;
यह आतमा जैसा ही है वैसा ही अनुभव होत है। १८०.
- ३५९ गुफा अंदर जाना उसका वाहन द्वार खड़ा रहे;
फिर अपन अकेले को चलकर अंदर जाना रहे। १८०.
- ३६० चेतन गुफा में जीव भी अंदर अकेला जात है;
वहाँ भेदवाद हो जो कोई वह सब कोई छूट जात है। १८०.
- ३६१ 'यह ज्ञान है, दर्शन है, विभाव है, यह कर्म है;
यह नय, यह चैतन्य है' पहिचान ने का विषय है। १८०.
- ३६२ परंतु अंदर प्रवेश करे सब कुछ वहाँ छूट जाता है;
नहि एक एक विकल्प को है छोड़ना पड़ता वहाँ। १८०.

- ३६३ यह ध्यान है, यह ध्येय है ऐसे विकल्प नहीं होत है—
निर्विकल्प दशा में सभी विकल्प टूट चूकत है। १८१.
- ३६४ ज्ञानी सविकल्प दशा, परमात्म पर दृष्टि रखे;
परमेष्ठी, ध्यान, ध्येय के विकल्प भी उसको होत है। १८१.
- ३६५ स्वानुभूति के काल में विकल्प जाल टूट जात है;
उग्र निर्विकल्प दशा में मुक्ति मिले, ऐसा मार्ग है। १८१.
- ३६६ 'छोड़ूँ विकल्प को' करने से विकल्प नहीं छूटे—
अंतर भेदज्ञान बल से विकल्प है छूट सके। १८२.
- ३६७ रमणीय है चैतन्य बाहर कहीं रमणीयता नहीं;
शाश्वत आत्मा रमणीय है पहिचान, ग्रहण कर उसे। १८३.
- ३६८ आडंबर, क्रियाकांड के कोलाहल, विविध विकल्प से—
दृष्टि हटाकर, स्थिरकर आडंबर रहित आत्म में। १८३.
- ३६९ चेतन रमणता रहित तू कोलाहल में थक जायगा—
विश्रामगृह तुझ आत्म में जा, थकान नहि, शांति मिले। १८३.
- ३७० चैतन्य ओर प्रयत्न से ज्ञानादि वृद्धि होत है;
अंतर में आवश्यकदि व्रत-तप सब प्रगट बने। १८४.
- ३७१ बाह्य क्रियाकांड सब परमार्थतः कोलाहल है;
स्थिर होकर अंदर बैठ जाना ही कर्तव्य है। १८४.
- ३७२ मुनिराज कहते है सदा-चैतन्य पूर्ण पदार्थ है—
अंदर जाना, संपदा की प्राप्ति हमारा विषय है। १८५.
- ३७३ चैतन्य में कर स्थिरता प्राप्ति अपूर्व की नहीं—
समाधि नहि प्राप्त की, हमारे विषय की प्राप्ति नहीं। १८५.
- ३७४ उपयोग यदि बाह्य गया द्रव्यादि के विचार में—
रुकना हमारा होत है किंतु हमारा विषय नहीं। १८५.
- ३७५ यह आत्मा नावीन्य-अपूर्वता का भंडार है;
मुनिपने में वह प्रगट नहीं तो व्यर्थ यह अवतार है। १८५.

- ३७६ वैराग्य गृहस्थी को होत है, मुनिराज का कोई ओर है;
मुनिराज वैराग्य महल के शिखर के है शिखामणि। १८६.
- ३७७ अभ्यास परायण रहे बारम्बार अंदर जात है;
छोड़कर मर्यादा बाहर यदि जाय तो मुनि ना रहे। १८७.
- ३७८ जो हो सके नहीं-कार्य करने की बुद्धि है मूर्खता-
जो हो सके करना नहीं, नहीं हो सके करना चहे। १८८.
- ३७९ मुनिराज को कर्तृत्व की बुद्धि तो है छूट गई;
आहारादि अस्थिरतारूप विकल्प भी मंद हुआ। १८८.
- ३८० उपदेश के प्रसंग में उपदेश तो देते मुनि;
विकल्प जाल मगर चलता नहि रहता उसे। १८८.
- ३८१ अपनी दृष्टि का डोर तू चैतन्य पर ही बाँध दे;
उपयोग यदि बाह्य रहे, किंतु दृष्टि को तू बाँध दे। १८९.
- ३८२ आकाश में उड़ाये पतंग पर डोर तो हाथ में रहे;
दृष्टि की डोर उसी तरह चैतन्य में ही बाँध दे। १८९.
- ३८३ जो परम पारिणामिक भाव है उसको ही अवलंबन ले;
परिपूर्ण का आश्रय करे तो पूर्णता है आ सके। १८९.
- ३८४ गुरुवाणी है निमित्त परन्तु समझकर आश्रय तो-
करना अपन का आप को, परिपूर्ण ही आश्रय है। १८९.
- ३८५ मैं ने अनादि काल से है बाहर ही ग्रहण किया;
बाहर ही है ज्ञान किया, बाहर ही है ध्यान किया। १९०.
- ३८६ मुनिपना भी बाहर से मान लिया बहुत किया;
शुभभाव तो बहोत किये, पर्याय पर दृष्टि रही। १९०.
- ३८७ शक्ति अगाध चैतन्य की पहिचान, ग्रहण नहीं;
सामान्य का ग्रहण नहीं, विशेष को ग्रहण किया। १९०.
- ३८८ जो डोर दृष्टि का उसे तू हाथ में पकड़ रखे;
सामान्य को ग्रहण करना, ज्ञान सब का हो भले। १९१.

- ३८९ अंतर लीनता बढ़ती रहे, साधक दशा बढ़ती रहे;
सामान्य अवलंबन से देशव्रत-महाव्रत आयँगे। १९१.
- ३९० आत्मा निवृत्त स्वरूप है शांत स्वरूपी है सदा;
मुनि को वहाँ से बाहर आना प्रवृत्तिरूप लगता अहा! १९२.
- ३९१ शुभभाव हो उँचे बहोत उन्हे बोझरूप ही लगे;
जैसे उसे पर्वत बड़ा उठाना हो हाथ में। १९२.
- ३९२ सम्यग्दृष्टिवंत तो ज्ञायक को सदा ज्ञायक से—
धारण—टिकाए रखे, स्थिर रखे, सहज ऐसी दशा। १९३.
- ३९३ सुदृष्टि को, मुनिराज को भेदज्ञान परिणति चले;
उसकी दशा अनुसार उपयोग अंतर या बाहर रहे। १९३.
- ३९४ मुनिराज का उपयोग अंतर शीघ्रता से उतरता;
ज्ञातृत्वधारा चलती रहती है दोनों की सदा। १९३.
- ३९५ पुरुषार्थ रहित नहि काल कोई, गुणस्थान अनुसार रहे;
परिणति भी वहाँ स्थिर रहे, सहज भी है, पुरुषार्थ भी है। १९३.
- ३९६ गुरुदेवश्री ने मोक्ष का शाश्वत मार्ग बतला दिया;
अंतर में ही वह मार्ग है उस मार्ग पर तू चल भला। १९४.
- ३९७ उर्ध्व रखो, प्रमुख रखो, प्रतिक्षण अपने आत्म को—
जिज्ञासु की भूमिका में भी अधिक रखना आत्म को। १९५.
- ३९८ स्वरूप तो सहज ही है, उसको सुगम तू जानना;
अनभ्यास से दुर्गम लगे, पर नहि दुर्गम जानना। १९६.
- ३९९ कोई अन्य के संगत पड़ा, संग छोड़ना दुष्कर उसे;
वास्तव में दुष्कर नहीं, दुष्कर मानना आदत उसे। १९६.
- ४०० परसंग छोड़ अलग रहना उसमें दुष्करता नहीं;
स्वभाव को प्राप्त करना सुगम है, दुष्कर नहीं। १९६.
- ४०१ प्रज्ञाछैनी शुभ-अशुभ और ज्ञान संधी बीच में—
उपयोग को सूक्ष्म करके सावधान होकर पटकना। १९७.

- ४०२ हो सावधान अर्थात् उपयोग को सूक्ष्म करके—
पहिचानकर लक्षण से अंतःसंधी में ही पटकना। १९७.
- ४०३ अभ्रक पर्त पतले मगर सावधानी से अलग बने;
उपयोग को सूक्ष्म करके विभाव को तू भेदना। १९७.
- ४०४ विभावभाव के समय में स्वभाव भिन्न जानना—
भिन्न ही है, भासता नहीं, उसको तू पहिचानना। १९७.
- ४०५ विभाव-ज्ञायक दोनो भिन्न सदा भिन्न ही है;
पाषाण-सोना एक दिखे पर सदा भिन्न-भिन्न है। १९७.
- ४०६ प्रश्न-सोना चमकता है इसलिये पथर से भिन्न दिखे;
स्वभाव तो चमकता है नहीं, कैसे उसे भिन्न रखे? १९७.
- ४०७ उत्तर-यह ज्ञान ही चमकता रहे, विभाव नहि चमकते कभी;
ज्ञान चमक चारों ओर फैले सोना उसी में ही ज्ञात रहे। १९७.
- ४०८ सच्चे अगर छोटे मोती इकट्ठे हो गये यदि;
जो पारखी वो उसमें से सच्चे को अलग करे। १९७.
- ४०९ प्रज्ञा में ग्रहना आत्मा जो देखता वह मैं ही हूँ;
जो जानता वह मैं ही हूँ विभाव को पृथक करे। १९७.
- ४१० प्रज्ञा से पृथक यह हो सके, साधन प्रज्ञा हो सके;
व्रत-तप या त्यागादि हो वे साधन कभी ना हो सके। १९७.
- ४११ स्वभाव की महिमा करे सुख बुद्धि पर से टूट जाती है;
स्वभाव में ही रस लगे दूसरा नीरस उसको लगे। १९७.
- ४१२ अंतर संधि तब ज्ञात होती, ऐसा नहीं कि रुचि पर में—
और उपयोग अंतर में प्रज्ञा छैनी का कार्य करे। १९७.
- ४१३ ज्ञातापने अभ्यास से ज्ञातापना प्रगट बने—
कर्तापना छूट जात है, विभाव एकमेक नहि बने। १९८.
- ४१४ विभाव नहि स्वभाव है, नहि एकमेक वह हो सके;
द्रव्य सदा शुद्ध ही रहे, नहि विभाव में एक बने। १९८.

- ४१५ 'पर को करूँ, रागादि मेरे, विभाव को में कर सकुं';
भ्रमणा रही अनादि की ज्ञातृत्व धारा से वह छूट सके। १९८.
- ४१६ जीव अटकने के प्रकार अनेक से विमुख हो-
चैतन्य में उपयोग से प्राप्ति अवश्य होगी तुझे। १९९.
- ४१७ इसी प्रकार पुरुषार्थ को जीव अनंत ने है किया;
काल अनंत से करते रहे, ऐसा ही कर तू इसलिये। १९९.
- ४१८ जीव अटकता है कहीं न कहीं, उसके अनेक प्रकार है;
किंतु सफलता एक रीत से-चैतन्य में जाना होगा तुझे। १९९.
- ४१९ द्रव्यलिंगी साधु होकर सूक्ष्मरूप से अटकता;
शुभभाव की मीठाश में जाता रुक वह कहीं न कहीं। १९९.
- ४२० यह राग की है मंदता, मूलगुण अट्टाईस है;
यह में हूँ, यह मार्ग है, संतुष्ट होकर अटकता। १९९.
- ४२१ अंतर में विकल्प की है एकता बुद्धि पड़ी;
उसको नहि क्यों देखता? शांति नहि है क्यों कहीं? १९९.
- ४२२ वह पाप भाव त्याग-माने सर्वस्व है कर लिया;
ऐसे ही वह मीठाश में संतुष्ट होकर ही रहे। १९९.
- ४२३ सम्यग्दृष्टिवंत को 'बाकी बहुत, बाकी बहुत'-
है भावना ऐसी रहे, पुरुषार्थ अखण्ड रहे। १९९.
- ४२४ गृहस्थ सम्यक्त्वी ने है मूल को पकड़ लिया;
अस्थिरतारूप शाख-पत्ते जरूर वो सूख जायेंगे। १९९.
- ४२५ द्रव्यलिंगी साधु हुआ मूल को ही है पकड़ा नहीं;
दृष्टि अपेक्षा उसने कुछ भी है कर लिया नहीं। १९९.
- ४२६ सुदृष्टि को बाकी वही, द्रव्यलिंगी ने बहुत किया;
बाह्य दृष्टि ऐसा मानता ऐसा परन्तु है नहीं। १९९.
- ४२७ परिषह सहन करता रहे, कर्तृत्व बुद्धि नहीं टूटी;
आकुलता वेदन रहा, उसने कुछ किया ही नहीं। १९९.

- ४२८ शुद्धात्म की जो अनुभूति-जिनशासन अनुभूति है;
अबद्ध स्पष्ट की अनुभूति-ब्रह्मांडभाव सब आ गया। २००.
- ४२९ उसने ही मारग, ज्ञान और मोक्ष सब है जान लिया;
'सर्व गुणांश वो समकित है' लोक-अलोक सब ज्ञात हुआ। २००.
- ४३० जिस मार्ग से समकित हुआ उस मार्ग से केवल मिले;
इसी मार्ग से देशविरती, मुनिपना, चारित्र प्रगटता। २००.
- ४३१ चंद्रकला हो दूज की पूरा ख्याल में आ सके;
देखे नमूना, माल पूरे का पत्ता है चल सके। २००.
- ४३२ गुड़ की डली एक में पूरी गुड़ पारी का पत्ता लगे;
द्रव्य वहाँ तो भिन्न पर यहाँ आतम द्रव्य एक ही है। २००.
- ४३३ समकित में ब्रह्मांड चौद के भाव सभी है आ गये;
जैसे यह अंश प्रगट हुआ वैसे प्रगट होगी पूर्णता। २००.
- ४३४ अपरिणामि का आश्रय लेने को जहाँ कहा गया;
ज्ञायकपूर्ण आश्रय लेने का वहाँ है कहा गया। २०१.
- ४३५ निश्चय नय के विषयभूत अखंड ज्ञायक जो कहा-
है शास्त्र में, वह जानता, 'अपरिणामी' है निज आतमा। २०१.
- ४३६ प्रमाण से यह आतमा मात्र अपरिणामी ही नहीं;
'अपरिणामी' तो वह है मगर 'परिणामी' भी उसको जानना। २०१.
- ४३७ अपरिणामी पर दृष्टि करते परिणाम गौण हो जात है;
परिणाम कहीं जाते नहीं, परिणाम जाय चला कहाँ? २०१.
- ४३८ परिणमन तो पर्याय का स्वभाव है, होते रहे;
सिद्ध दशा में भी परिणती होती ही रहेती सदा। २०१.
- ४३९ ज्ञायक पर दृष्टि हुई, सम्यग्दृष्टि जानना;
यह मेरी पर्याय ज्ञान की, इस प्रकार नहीं रुकना। २०१.
- ४४० 'यह मेरी पर्याय द्रव्य की' इस तरह भी रुकना नहीं;
निष्क्रिय है तत्त्व उसी पर दृष्टि तू स्थापित करे। २०१.

- ४४१ परिणाम तो होते रहेंगे, गुण-पर्याय मेरी हुई;
‘परिणाम हुए मेरे ऐसे’ जोर ऐसा देना किस लिये? २०१.
- ४४२ पर्याय में तो द्रव्य का परिपूर्ण सामर्थ्य आता नहीं;
उस परिपूर्ण सामर्थ्य का नित्य तू अवलंबन करे। २०१.
- ४४३ तू तरंग को नहि देखकर दृष्टि दलपर स्थापित करे;
तरंग तो उछलती ही रहे, अवलंबन क्यों उसका करे? २०१.
- ४४४ गुणभेद दृष्टि छोड़कर अपरिणामी की दृष्टि करे;
नित्य अभेद का ला जोर तो ज्ञातादृष्टा हो जायगा। २०१.
- ४४५ प्रतीति करके दृढ़, सूक्ष्म उपयोग वाला होकर के;
गहरा उतरजा तू अभी द्रव्य के पाताल में। २०२.
- ४४६ आनंद मिलेगा तूझे वहाँ, शांति वहाँ भरपूर है;
तू खूब धीर-गंभीर होकर द्रव्यतल को स्पर्श कर। २०२.
- ४४७ उपयोग सर्वत्र स्थूल हुआ उसे सब जगह से उठा-
अत्यंत धीर होकर के द्रव्य को तू पकड़ ले अभी। २०३.
- ४४८ रस नहि, वर्ण नहि, गंध न द्रवेन्द्रिय भी है;
तुझ द्रव्य के स्वरूप में भावेन्द्रिय भी नहीं है। २०३.
- ४४९ यद्यपि जीव की पर्याय यह भावेन्द्रिय तो खण्डरूप है;
क्षायोपशमिक यह ज्ञान है, द्रव्य अखण्ड एवं पूर्ण है। २०३.
- ४५० भावेन्द्रिय के लक्ष से भी द्रव्य पकड़ नहि आ सके;
द्रव्य उन सब से है पार, सूक्ष्म उपयोग करके पकड़ना। २०३.
- ४५१ यह आत्मा अनंत शक्तियों का पिण्ड है वहाँ-
दृष्टि यदि स्थापित करे तो विभूति प्रगट सके। २०४.
- ४५२ उपयोग को सूक्ष्म करके अंतर में स्वभाव भूत-
ऋद्धि बहुत है प्रगटती, सिद्धि बहुत प्रगट सके। २०४.
- ४५३ अंतर में यह आत्मा आनन्द का सागर है;
है ज्ञान सागर, सुख सागर, भीतर ही सबकुछ है। २०४.

- ४५४ सागर में लहर जोर से उठे न्यून-अधिक सागर नहीं;
केवल्य बहे काल अनंत पर द्रव्य ज्यों का त्योंही रहे। २०४.
- ४५५ चैतन्य की अनंतता, अगाध एवं अपूर्वता—
गुरुवचन में, उनके द्वारा शुद्धात्मा को है जान सके। २०५.
- ४५६ चैतन्य का महिमा हुआ संसार महिमा नहि रहे;
तभी ही चैतन्य का यह देव समीप है आ सके। २०५.
- ४५७ हे देव! शुद्धात्म तुझ शरण से परावर्तन रूपी—
सब रोग होते शांत और अशांति रहेती नहीं। २०५.
- ४५८ चैतन्य की महिमा हुई संसार महिमा छूट गई—
चैतन्य में विश्रान्ति है, बहार अशांति लगे। २०५.
- ४५९ मैं तत्त्व निर्विकल्प हूँ ज्ञानानंद से भरा हुआ—
तत्त्व मुझ को चाहिये दूसरा न कुछ भी चाहिये। २०५.
- ४६० चैतन्य के अस्तित्व का है ग्रहण ज्ञानी ने किया;
अभेद में है दृष्टि कि मैं ज्ञान-आनंद वस्तु हूँ। २०६.
- ४६१ विश्रान्ति महल है मिल गया आनंद जहाँ भरपूर है;
शांति और आनंद का है स्थान उज्वल आतमा। २०६.
- ४६२ ज्ञायक रहकर ज्ञान सब करता, परंतु दृष्टि तो—
अभेद पर के जोर से अपने को अपनी और खींचे। २०६.
- ४६३ शुद्धोपयोग किया नहीं—कर्मराशी क्षय नहीं हुई;
ज्ञायक में स्थिर बने कर्म क्षण में क्षय हो जायगा। २०७.
- ४६४ तू एक पर शक्ति तुझ में अनंतानंत है भरी;
अनंत कर्मों के लिये तू एक ही पर्याप्त है। २०७.
- ४६५ सोता रहा है तू सदा इसलिये सब आते रहे;
तू जाग जाये तो सभी अपने आप ही भाग जायँगे। २०७.
- ४६६ बाह्य दृष्टि से कभी अंतर्दृष्टि प्रगट नहीं;
आत्मा नहीं बाहर कहीं, आत्मा अंतर में ही रहे। २०८.

- ४६७ अन्यत्र कहीं जाना नहीं परिणाम भटकाना नहीं;
निज में लगा, तू जा वहीं, ले शरण, ग्रहण उसका करे। २०८.
- ४६८ आश्रय बड़ो का लिया सब प्रगट आत्मा में हुआ;
शक्ति अगाध चैतन्य की उस चक्रवर्ती को ग्रहे। २०८.
- ४६९ उस एक चेतन चक्रवर्ती को सदा ही ग्रहना तुझे;
उपयोग बाहर जाय, चेतन अवलंबन अंतर लाता रहे। २०८.
- ४७० ऐसा ही बारंबार करते होकर क्षपक, पूर्ण बने;
दृष्टि डोर बांध वस्तुपर, पर्याय से कुछ नहीं बने। २०८.
- ४७१ राजा अपन के महल में दूर अंतःपुर में ही रहे;
चैतन्य चेतन महल में निवास करे, तू जा वहाँ। २०९.
- ४७२ तू मार्ग स्वयं नहि जानता, जो जानता साथ नहि रखे;
तो एक डग भी तू अरे! कैसे भर सकेगा भला? २१०.
- ४७३ अंधा तू है, गुरुवाणी-श्रुत का न अवलंबन तुझे;
है मार्ग जो साधक का अंतर में, कैसे सूझे? २१०.
- ४७४ अंधा तू है, गुरुवाणी-श्रुत का न अवलंबन तुझे;
समकित, साधकपना कैवल्य कैसे प्रगट हो? २१०.
- ४७५ अनजान काल अनंत का गुरुवाणी-आगम बिना-
नहि ज्ञात होता, निर्णय सच्चा भले वो स्वयं करे। २१०.
- ४७६ निर्णय-ज्ञान के बिना नहि ध्यान सच्चा हो सके;
इसलिये अवलंबन, चिंतवन श्रुत का साथ रखे। २१०.
- ४७७ यदि योग श्रवण का मिले तत्काल बोधक वाणी में-
और योग हो स्वाध्याय का आगम प्रवर्तन तू रखे। २१०.
- ४७८ अतिरिक्त जो काल उसमें गुरुवाणी और आगम में-
भगवान आत्म दिखाया उसका विचार-मंथन करे। २१०.
- ४७९ पहलु सभी तू जानकर ज्ञान अभेद प्रगट करे;
अंतर समाये वह अनंत समाधि सुख लीन हुए। २११.

- ४८० ज्ञान रहित बहुजन कभी नहीं पद यह है पा सके;
इसलिये तू ज्ञानपद यह शीघ्र प्राप्त करे। २११.
- ४८१ कल्पित जो ध्यान करे और स्वरूप को जाने नहीं;
यह रत्नराशि स्वामि को जाने नहीं, ध्यान नहीं। २११.
- ४८२ ध्यान करना है जिस का उस तत्त्व पहिचाने बिना—
ग्रहण बिना, अेकाग्रता—ध्यान किस आश्रय से? २११.
- ४८३ सत लक्षण एक ही आत्मा उसीका ही परिचय रखे;
जैसा परिचय जिस को हुआ वैसी परिणति उसकी रहे। २१२.
- ४८४ जो विचर सके लोकाग्र में लौकिक का यदि संग करे—
तो वह परिणति तेरी पलट जाने का कारण बने। २१२.
- ४८५ जैसे जंगल में सिंह है निर्भय रूप से विचरता;
तू लोक से निरपेक्षरूप पुरुषार्थ से विचरना। २१२.
- ४८६ भय त्याग करके लोग का शिथिलता को छोड़कर—
पुरुषार्थ करना 'लोग क्या कहे?' विचारना नहीं। २१३.
- ४८७ शुद्धात्म संबंध करते, निर्भय हो पुरुषार्थ कर—
लोकाग्र में जाना चहे वही साधक विचारते। २१३.
- ४८८ सद्गुरु के उपदेशरूप निमित्त में पूर्ण शक्ति है;
तैयार तू होता नहीं, दर्शन नहीं प्रगटता तुझे। २१४.
- “मरता अकेला जीव एवं जन्म एकाकी करे;
पाता अकेला ही मरण अरु मुक्ति एकाकी करे।” २१४.
- ४८९ संयोग तो प्राप्त हुए, अंतर डुबकी लगायी नहीं;
सुख-दुःख में, स्वर्ग नरक में तू अकेला ही है सदा। २१४.
- ४९० मोक्ष अकेला तू जायगा, नहि कोई साथ आ सके;
इसलिये अंतर जाकर दर्शन प्रगट करना अभी। २१४.
- ४९१ गुरुवाणी को तू सुनकर विचार—प्रतीति करे—
तो ज्ञान—सुख अनंत के धाम का दर्शन हो सके। २१४.

- ४९२ जीव शुभ में लगता परन्तु शोधकवृत्ति नहीं जाती है; शोध सत की चलती ही रहे, शुद्धता का ध्येय रहे। २१५.
- ४९३ 'मैं शुद्ध हूँ' कह, नहीं भूले पर्याय की अशुद्धता—स्वच्छंद नहि, शुष्क नहीं, हृदय भीगा हुआ रखे। २१५.
- ४९४ संसार से जो थक गया समकित उसको प्रगटता; महिमा वस्तु की सदा रहे, संसार से थक जाता है। २१६.
- ४९५ मुझे कुछ भी नहीं चाहिये एक आत्मा ही चाहिये; दृढ़ता कर 'द्रव्य ही मैं' भावरूप परिणमित बने। २१६.
- ४९६ दृष्टि नहीं भेद एक भी स्वीकारती, द्रव्य में रहे—समकित या केवल हुआ, यह देखने नहीं बैठती। २१६.
- ४९७ द्रव्यदृष्टिवंत जीव को है खबर, काल अनंत में—द्रव्यदृष्टि से जीवों ने विभूति प्रगट की है सदा। २१६.
- ४९८ द्रव्यदृष्टि से द्रव्य में जो हो वह प्रगट होता ही है; 'समकित मुझ को हो गया' पर्याय में चिपकती नहीं। २१६.
- ४९९ प्रारंभ से पूर्णता तक सब को निकाल, द्रव्य पर ही—जमी रहती, आशा बिना निस्पृहभाव से प्रगटती। २१६.
- ५०० उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सब पर्याय में होने पर भी—पर्याय और द्रव्य कभी समान कोटि के नहीं। २१७.
- ५०१ कोटि उच्च है द्रव्य की और निम्न है पर्याय की; द्रव्य दृष्टि है रसकस युक्त, पर्याय में नहीं चिपकती। २१७.
- ५०२ अनुभूति भले ही थाय पर दृष्टि वहाँ नही चिपकती; दृष्टि रहती शाश्वत पर, पर्याय में नहीं चिपकती। २१७.
- ५०३ आश्चर्यकर स्वभाव मेरा प्रगट हुआ अनुभव में—है ज्ञान ऐसा जानता पर दृष्टि शाश्वत पर रहे। २१७.
- ५०४ अेकांतप्रिय उपरी दृष्टि से बाह्य कार्य में है दिखता; पर कौन जाने वह बाह्य में आया है या आया नहीं। २१८.

- ५०५ अति दुर्बल मनुष्य को, कार्य बोज़ कठिन लगे;
इस तरह ज्ञानी को भी बाह्य कार्य में बोज़ लगे। २१८.
- ५०६ जैसे भी कठिन समय में निकाल समय ज्ञानादि का—
यह जीवन अमूल्य चला, व्यर्थ नहीं गँवाना इसे। २१९.
- ५०७ अभ्यास कर दृढ़ तू अरे! ज्ञायक परिणति का अभी;
शुभभाव के कर्तृत्व में सर्वलोक कर्ता तू बने। २२०.
- ५०८ शुद्धोपयोग उपादेय है, मात्र अंतर्मुहूर्त नहीं—
शाश्वत अंतर ही रहना स्वभाव है, कर्तव्य है। २२१.
- ५०९ उपयोग प्रतिष्ठित करे, निराली दशा मुनिराज की—
प्रतिबंध पर का है नहीं, ज्ञायक में ही प्रतिबंध है। २२२.
- ५१० निजगुण में ही रमणशील, निरालम्बन होत है;
प्रयाण मोक्ष पंथ में किया आरंभ, उसको पूर्ण करे। २२२.
- ५११ शुद्धात्म में हो स्थिर तू, वही कार्य है, सर्वस्व है;
शुभभाव तो आये परन्तु वह नहीं सर्वस्व है। २२३.
- ५१२ अंतरात्मा दिनरात आत्मा, आत्मा करते हुए—
अंतरात्म भाव रूप परिणत परमात्मा हो जात है। २२४.
- ५१३ गुरुवचन रामबाण अमोघ विभाव तो तूट जात है;
स्वभाव प्रगटता, अहा! अवसर चूकने जैसा नहीं। २२५.
- ५१४ स्वभाव को पूर्ण रूप से देखते भूत-भविष्य की—
समयमात्र में ज्ञात होती पर्याय लोकालोक की। २२६.
- ५१५ जो जानने की आकांक्षा अधिक बस होओ इसे—
स्वरूप में निश्चल ही रहना तुझे योग्य है। २२६.
- ५१६ आत्मा ही आनंदरूप है, स्वयमेव मंगलरूप है;
इसलिये स्वानुभूति भी मंगल, आनंदरूप है। २२७.
- ५१७ आत्म अस्तित्व को पहिचान कर हो स्थिर, बस!
अस्तित्व तुझ आश्चर्यकारी गुणपर्याय से भरपूर है। २२८.

- ५१८ भगवान की वाणी में भी स्वरूप पूर्ण न आ सके—
स्वरूप का अनुभव करके उसमें ही हो स्थिर तू। २२८.
- ५१९ संयम, नियम, तप सभी में आत्मा ही मुनि को समीप है;
मुनि साधना करने निकले लौकिक परिचय का रस नहीं। २२९.
- ५२० शुद्धि बढ़ाना हो यदि, दुःख से छूटने की भावना—
अधिक या समान गुण के संग में रहना तुझे। २२९.
- ५२१ लौकिक का हो संग वह पुरुषार्थ मंद का कारण बने;
विशेष संग चेतन निहारने की परिणति में वृद्धि करे। २२९.
- ५२२ असत्संग अचानक हो यदि पुरुषार्थ से अलग रहे;
असत्संग रस पूर्वक हो परिणति मंद पड़ जायगी। २२९.
- ५२३ स्वरूप झूलते मुनियों को आचार्य की यह सीख है;
निश्चय—व्यवहार की संधि को भूमिकानुसार ही समझना। २२९.
- ५२४ आश्चर्यकारी आत्म को चारो ओर से पहिचान कर—
प्रमाण—नय पक्ष छोड़कर तू स्थिर हो अंतर में। २३०.
- ५२५ अंतर से तब ही मुक्त स्वरूप है प्रगट बने;
स्वरूप स्थिर ज्ञानी ही आनंदामृत का अनुभव करे। २३०.
- ५२६ आत्म गुण गाते ही गाते गुणी—भगवान हो गया;
गुणरत्न कमरे खुल गये है असंख्य प्रदेश में। २३१.
- ५२७ ध्यान ज्ञाता का ही करते ज्ञानमय आत्मा हो गया;
ध्यानमय वह हो गया, एकाग्रतामय हो गया। २३२.
- ५२८ नंदनवन में सब कुछ मिला बाहर अब क्यों जायगा ?
ग्रहने योग्य ग्रहण किया छोड़ने योग्य है छूट गया। २३२.
- ५२९ आनंद-ज्ञान प्रगट हुए, बाहर अब क्या बाकी रहा ?
निर्विकल्प जो हो गये नहि बाहर है आते कभी। २३३.
- ५३० करना मुझे बाकी बहुत जो मानते ऐसा उसे—
आगे बढ़ने का बहुत अवकाश रहता है उसे। २३४.

- ५३१ 'कल्याण करना है मुझे' परिणाम अनेको किये;
शुभभाव में संतुष्ट हो सच्ची विधि नहीं जानता। २३४.
- ५३२ स्वतःसिद्ध वस्तु का स्वभाव प्रतिकूल कैसे रहे?
अनुकूल जो वस्तु को रहे दुःखरूप वह नहि हो सके। २३५.
- ५३३ नहि मलिनता है टिकती और मलिनता रुचति नहीं;
नहि मलिनता वस्तु का स्वभाव हो सकता कभी। २३६.
- ५३४ विभाव से छूटकर मुक्ति को यदि प्राप्त करना है तुझे—
चैतन्य के स्वरूप को अभेद को तू ग्रहण कर। २३७.
- ५३५ द्रव्यदृष्टि पर्याय को दूर रखकर निरपेक्ष को—
सामान्य है स्वरूप उसको सदा ग्रहण करे। २३७.
- ५३६ द्रव्यदृष्टि विषय में गुणभेद भी होते नहीं;
ऐसी ही शुद्ध दृष्टि को प्रगट करना है तुझे। २३७.
- ५३७ इस दृष्टि के साथ वर्तता ज्ञान वह गुण-पर्याय को-
भेद तथा अभेद को है जानता विविध प्रकार से। २३७.
- ५३८ लक्षण प्रयोजन आदि से है भिन्नता सब गुण में-
वस्तु अपेक्षा नहीं भेद है, है ज्ञान ऐसा जानता। २३७.
- ५३९ पर्याय यह प्रगट हुई, समकित यह प्रगट हुआ;
यह मुनिदशा, केवल हुआ, है ज्ञान ऐसा जानता। २३७.
- ५४० महिमावंत यह पर्याय को और अन्य सभी पर्याय को-
यह ज्ञान तो है जानता पर दृष्टि कहीं रुकती नहीं। २३७.
- ५४१ देव-गुरु की महिमा और श्रुत चिंतवन के-
अणु-महाव्रत आदि का विकल्प साधक को भले— २३७.
- ५४२ ज्ञायक परिणति को परन्तु बोझरूप सब लागते;
स्वभाव से विरुद्ध भाव अपूर्ण दशा में होत है। २३७.
- ५४३ स्वरूप में एकाग्रता स्वरूप में वसवाट से-
वह भाव सब छूट जात है, सर्व राग का क्षय होत है। २३७.

- ५४४ यदि मिटाना परिभ्रमण को तो बुद्धि को तीक्ष्ण कर के-
पहिचानना, द्रव्य हाथ आ गया तो मुक्ति सहज है। २३८.
- ५४५ शुभ व्यवहार भी असार है उसमें तुझे रुकना नहीं;
जो नगर का ध्येय रखे वह ग्राम-खेतर छोड़ दे। २३९.
- ५४६ बीच में शुभादि होत परन्तु साध्य तो शुद्ध पूर्ण है;
व्यवहार को छोड़कर स्वरूप में पहुँच जायगा। २३९.
- ५४७ काल अनन्ता बीत गया, पर का न कुछ भी किया-
अंतर में शुभ-अशुभ करके जन्म-मरण ही तू ने किया। २४०.
- ५४८ गुण-पिण्ड निज शुद्धात्म को समझ, उसीमें दृष्टि कर;
प्रयाण कर, श्रद्धान, अनुभूति वहाँ विश्राम कर। २४०.
- ५४९ भगवान अहो! यह आत्मा सर्वांग सहजानंद है;
देखो जहाँ आनंद है, आनंद ही आनंद है। २४१.
- ५५० जैसे मिश्री में सर्वांग में मीठाश ही मीठाश भरी-
वैसे ही यह आत्म में आनंद ही सर्वांग भरा। २४२.
- ५५१ ले ओट चैतन्य देव की उसकी शरण लेना है तुझे-
तेरे सभी ही कर्म टूट कर नष्ट ही हो जायँगे। २४२.
- ५५२ चक्रवर्ती मार्ग में निकले अपराधी लोग कांप उठे-
चैतन्य चक्रवर्ती पास भी जड़ कर्म कैसे रहे? २४२.
- ५५३ नित्य एवं अभेद है, दृष्टि विषयभूत तत्त्व यह-
स्वरूप में शुद्ध-अशुद्ध पर्याये नहि, गुणभेद नहि। २४३.
- ५५४ प्रयोजन सिद्धि के लिये परमार्थ यह आत्म है;
उसका ही आश्रय लिया तो धर्म वहाँ है प्रगटता। २४३.
- ५५५ विभूति से भरपूर है गुणराशि वहाँ अनंत है;
है पर्वत विशाल गुण का, गुण चारों ओर ही है भरे। २४४.
- ५५६ अवगुण नहीं है एक भी अहो! यही मैं आत्मा;
आत्म दर्शन के लिये कौतूहल ही किया नहीं। २४४.

- ५५७ 'मुक्त ही हूँ, नहि चाह कुछ, बैठा परिपूर्ण को पकड़'-
निर्णय करे, विभूति तो अंशतः प्रगट होती वहाँ। २४५.
- ५५८ प्रगट हुआ चक्र रतन, आराम से नहि बैठते;
चक्रवर्ती लेकर चक्र को छ खण्ड साधने जात है। २४६.
- ५५९ समकित रूपी चक्र को चेतन चक्रवर्ती साधता;
अप्रमत भाव से वह कैवल्य को प्रगटावता। २४६.
- ५६० आत्म हुआ साक्षात् यह दर्शन ही अपूर्व है;
अनंतकाल में नहि हुआ ऐसा वही साक्षात् है। २४७.
- ५६१ दिव्यदर्शन जो हुआ वह अलौकिक है, अहा!
सिद्ध तक की सर्व लब्धि, अनुभूति में जाकर मिले। २४७.
- ५६२ विश्व का अद्भुत है जो तत्त्व वह तो तू ही है;
अंदर जाते अनंत गुण का बगीचा है खिल उठे। २४८.
- ५६३ है ज्ञान वहीं, आनंद वहीं मिले, विहार कर तू वहीं;
अनंत काल थकावट का एक वहीं ही विश्राम है। २४८.
- ५६४ गहरे उतर जा अंतर में परमात्म दर्शन होंगे तुझे;
बाहर वहाँ से नहि आयगा, आना तुझे सुहायगा नहि। २४९.
- ५६५ मुनिराज को अंतर में पग पग झरती पवित्रता;
पुरुषार्थ की पर्याय में पवित्रता झरती सदा। २५०.
- ५६६ रे! द्रव्य तो उसको कहे कि कार्य जिस के लिये;
कोई दूसरे साधनों की राह कभी न देखना पड़े। २५१.
- ५६७ भेद ज्ञान का लक्ष करके आत्म चिंतवन रखे;
चतुर्दिश सूझने का कारण बने, सत् को सुगम करे। २५२.
- ५६८ प्रतीति करने तीन काल की 'भूत-वर्तमाने शुद्ध हूँ-
भविष्य में शुद्ध रहूँगा', विकल्प नहि करना पड़े। २५३.
- ५६९ परन्तु वर्तमान समय जो एक में यह आत्म की-
प्रतीति हुई, तीनों ही काल की समा जाती है। २५३.

- ५७० सुख-दुःख वेदन होत है नहि पूछने जाना पड़े;
स्वानुभूति अपन को होत तो नहि पूछना किसी से पड़े। २५४.
- ५७१ अंतर अपरिचित मार्ग है, घटमाल क्या अंतर चले-
आगम और गुरुवाणी से निर्णय किया है जा सके। २५५.
- ५७२ भगवान की स्याद्वाद वाणी तत्त्व को प्रकाशती;
जिनेन्द्र-गुरुवाणी अवलंबन से डग साधना के भर सके। २५५.
- ५७३ साधक दशा की साधना ऐसी करे, साध्य मिले;
साधक दशा भी जानना कि मूल स्वभाव है नहीं। २५६.
- ५७४ साधकदशा प्रयत्नरूप है अपूर्ण दशा उसको जानना;
नहि रखने योग्य है अपूर्णदशा, ऐसा मानना। २५६.
- ५७५ स्वभाव की दृष्टि करके अशुद्धता को ख्याल में-
रखकर करे पुरुषार्थ तो मोक्षदशा प्राप्त तुझे। २५७.
- ५७६ विचारकर तेरे लिये इस दुनिया में आत्मा सिवा-
आश्चर्यकारी कौन वस्तु? कोई वस्तु है ही नहीं। २५८.
- ५७७ तू ने जगत में प्रयास तो सब प्रकार के किये अरे!
देखा, सबकुछ किया भी है, आत्मा पहिचाना है नहीं। २५८.
- ५७८ ज्ञान स्वरूप, सुख स्वरूप, गुणरूप पहिचाना नहीं;
पहिचान अब, बस वही करना एक ही बाकी रह गया। २५८.
- ५७९ किसी प्रकार प्रवृत्ति में खड़ा रहना स्वभाव नहीं;
निज में रहे वह हितकर, कल्याणकारी, सर्वस्व है। २५९.
- ५८० शुद्धात्म को जाने बिना ढेर क्रिया के लगा दे यदि;
आत्मा न जाना जा सके वह ज्ञान से ही जान सके। २६०.
- ५८१ दृष्टि पूर्ण की रखकर आगे बढ़े, सिद्ध बने;
स्वभाव अधूरा मानता तो पूर्णता की प्राप्ति नहीं। २६१.
- ५८२ उपयोग सूक्ष्म करने से सूक्ष्म द्रव्य पकड़ में आयगा;
पकड़कर आराम से बैठना ही आत्म में विश्राम है। २६२.

- ५८३ जो साधना करते उसे स्पृहा कभी होती नहीं;
मुझे कुछ भी नहीं चाहिये आत्मा ही मुझ को चाहिये। २६३.
- ५८४ वीतरागता होती इसी क्षण तो दूसरा नहीं चाहिये;
अंतर रहा जाता नहीं तो बाहर है आना पड़े। २६३.
- ५८५ तेरे चित में आत्मा नहीं, रंग दूसरा ही समाया है;
तब तक तूझे नहीं आत्मा का रंग कभी है लग सके। २६४.
- ५८६ बाह्य रस छूट जाय तो ज्ञायक प्रगट है हो सके;
आत्मा यदि है मिल गया विभाव प्रयोजन नहीं रहे। २६४.
- ५८७ है जाननार आत्मा, जागृतस्वरूप ही है सदा;
वह ज्योत को पहिचान ने से जागृति प्रगटे अहा! २६५.
- ५८८ जन्म-मरण का नाश करके कल्याण करना हो यदि;
चेतन भूमि में खड़ा रहकर पुरुषार्थ करना तू वहीं। २६६.
- ५८९ जन्म मरण का नाश होगा आचार्य करुणा से कहे;
तू मुक्त स्वरूप आत्म में निस्पृहता से रह खड़ा। २६६.
- ५९० मोक्ष की स्पृहा और चिंता सभी से मुक्त हो;
हो जायगा सुखरूप तू, सुख बाहर से नहीं मिले। २६६.
- ५९१ आलंबन करके द्रव्य का निश्चय-व्यवहार की मैत्री से;
आगे बढ़ता जाता स्वयं अद्भुतता में जाता समा। २६७.
- ५९२ साधकदशा ज्ञातृत्वधारा को रोग नहीं रोक सके;
उपसर्ग कहीं आत्म परिणति को नहीं बदल सके। २६८.
- ५९३ देव-गुरु-शास्त्र अहो! उपकारी है, मंगल है;
यह देव-गुरु शास्त्रादि का दासत्व हम को चाहिये। २६९.
- ५९४ गुरुदेव से मार्ग मिला मार्ग प्रकाशित है किया;
उपकार उसका अपार है, उपकार नहीं भूल सके। २६९.
- ५९५ गुरुदेव का यह द्रव्य तो अलौकिक है, महान है;
श्रुतज्ञान, वाणी उसकी आश्चर्यकारी महान है। २६९.

- ५९६ है द्रव्य मंगल, वाणी भी मंगल स्वरूपी है सदा;
मंगलमूर्ति, गुण भरपूर वह, भवोदधि तारणहार है। २६९.
- ५९७ गुरुदेव के चरण कमल की भक्ति निरंतर रहो;
गुरुदेव का दासत्व भी हम को निरंतर रहो। २६९.
- ५९८ अपनी जिज्ञासा हो यदि मार्ग मिले, शास्त्रो सभी-
साधन रहे, पर मार्ग तो अपने ही से ज्ञात रहे। २७०.
- ५९९ तीव्र रुचि गहरी हो यदि उपयोग को सूक्ष्म करे;
तो मार्ग है ज्ञात बने, कारण ही देना चाहिये। २७०.
- ६०० तन्मय लगन हो जिस में उसको न वह भूलता कभी;
'यह शरीर सो मैं' मानता, उसको भूलता नहीं। २७१.
- ६०१ यदि नींद में भी नाम से बुलाता उत्तर दिये;
तन्मयपना है शरीर में अभ्यास है अनादि से। २७१.
- ६०२ ज्ञायक अनभ्यस्त रहा, सूक्ष्म होना पड़ता उसे;
धीर, स्थिर होना पड़े यह कठिन लगता है उसे। २७१.
- ६०३ अभ्यास बाह्य का रहा, सरल इसलिये है लगे;
लेकिन तू जब भी करे तुझ को ही करना पड़े। २७१.
- ६०४ कुछ चाहिये नहीं, थक गया, आशा-पिपासा भी छूट गई;
जो द्रव्य में वह चाहिये सच्चा जिज्ञासु जानना। २७२.
- ६०५ शांतिमय जो द्रव्य है मुझे वही ही है चाहिये;
निस्पृहता से जाय गहरा पर्याय सब प्रगट बने। २७२.
- ६०६ तीक्ष्ण हितकारी गुरु प्रहार से आतमा जाग उठे;
ज्ञायक रुचि प्रगट होकर झुकाव चेतन ओर रहे। २७३.
- ६०७ भगवान मिले मुश्किल से नहि छोड़ना अच्छा लगे;
'हे चेतन', 'हे ज्ञायक' ऐसा ही बारंबार अंतर में रहे। २७३.
- ६०८ चैतन्य ओर रुचि सदा ही अंदर है बनी रहे;
'चलते-फिरते प्रभु याद हो' ऐसा बना रहता उसे। २७३.

- ६०९ चैतन्य की महिमा नहीं, विभाव तुच्छता नहीं;
पर से नहीं विरक्तता इसलिये मार्ग नहीं मिला। २७४.
- ६१० है काल यह पंचम इसलिये बाह्य फेरफार रहे;
आत्महित करना है जिसे काल बाधक नहीं उसे। २७५.
- ६११ शुभ-अशुभ से भिन्न मैं ज्ञायक हूँ, याद रखना—
प्रत्येक प्रसंग में, भेद का अभ्यास करना है सार्थकता। २७६.
- ६१२ विरक्तता पर से नहीं, नहि तुच्छता विभाव की—
अंतर उत्कंठा नहीं, फिर कार्य कैसे हो सके। २७७.
- ६१३ अंतर उत्कंठा रहे तो, कार्य होता है वहाँ;
'करूंगा' कहे करता नहीं, आलसी स्वयं है हो गया। २७७.
- ६१४ 'करूंगा कल, कल करूँ' भेदरूप सदा ही है वर्तते—
कल की नहीं हो आज कभी जीवन समाप्त हो जात है। २७७.
- ६१५ है आलसी ऐसे रहे, सोते नहि वो बैठते—
बैठे खड़े होते नहि, उत्कंठा रहित आलस करे। २७७.
- ६१६ ग्रीष्मऋतु पर्वत शिखर हो ताप से तृषित तो—
पानी की बुंद एक लक्ष, उसको लेने दौड़ता। २७८.
- ६१७ संसार का ताप लगता सत की पिपासा जागी हो;
वह सत की प्राप्ति के लिये उग्र प्रयत्न करता रहे। २७८.
- ६१८ प्रतीति करके ज्ञान से अस्तित्व को ले ख्याल में;
तो उसको ज्ञायक ही तत्त्व प्रगट है आ सके। २७८.
- ६१९ विचार और मंथन सब ही विकल्परूप ही होत है;
उससे भिन्न विकल्पातीत ज्ञायक तत्त्व ही आत्म है। २७९.
- ६२० 'मैं तोड दूँ विकल्प यह' वह भी विकल्प ही रहा;
पार उसके भिन्न एक ही मैं चैतन्य पदार्थ हूँ। २७९.
- ६२१ अस्तित्व के ख्याल में भिन्न में ज्ञायक तत्त्व हूँ;
ऐसा रहे घोटन निरंतर वह भी अच्छा ही मानना। २७९.

- ६२२ पुरुषार्थ उग्रता, आरंभ तो मार्ग निकलता ही है;
पहले विकल्प टूटता नहीं, पक्का निर्णय पहले होत है। २७९.
- ६२३ स्वभाव जिस को रुचता अंतर जागृत हो यदि;
उसको अरे! बाहर नहीं आना सुहाता है कभी। २८०.
- ६२४ शांत-निवृत्त स्वभाव में शुभ-अशुभ के भावों सभी-
आकूलता, प्रवृत्ति है, नहि मेल दोनों का कहीं। २८०.
- ६२५ बाहर के सब कार्य में सीमा-मर्यादा होत है;
आनन्द-अंतर्ज्ञान को सीमा-मर्यादा है नहीं। २८१.
- ६२६ जीव को अनादि काल से बाह्य वृत्ति जो हो गई-
उसकी यदि मर्यादा नहीं, बाह्य सदा ही रुका रहे। २८१.
- ६२७ जो लोक है बाह्य उससे पृथक चैतन्य लोक है;
'ऐसा किया', 'इन्होंने किया' है देखते सब बाह्य से। २८२.
- ६२८ परन्तु रहे ज्ञानी कहाँ यह तो नहीं वह जानते;
अंतर में क्या करत है ज्ञानी स्वयं है जानते। २८२.
- ६२९ बाहर देखनेवालो को ज्ञानी सदा बाह्य दिखे;
ज्ञानी कहाँ रहते अहा! ज्ञानी स्वयं ही जानते। २८२.
- ६३० बाह्य क्रिया विकल्प में पड़ते दिखाई देत है;
परंतु कहीं अंतर में गहराई में है विचरते। २८२.
- ६३१ द्रव्य अनंत शक्ति प्रभु, स्वामी भी है, महान है;
साधक की पर्याय वहाँ पामरपना स्वीकार करे। २८३.
- ६३२ साधक को पर्याय में और अपने द्रव्य में-
प्रभुता और पामरता का ऐसा विवेक वर्तता रहे। २८३.
- ६३३ साधक दशा तो अधूरी है, वीतरागता व पूर्णता-
जब तक न हो जाय तब तक पुरुषार्थ धारा उग्र रहे। २८४.
- ६३४ जब ज्ञान केवल्य होत तब उपयोग एक समय का-
तीन काल तीन लोक को एक समय में ज्ञान जान ले। २८४.

- ६३५ पर से और विभाव से भिन्नता को विचारना;
प्रतिक्षण एकत्व तोड़ने का अभ्यास करना चाहिये। २८५.
- ६३६ यह तो अनादि प्रवाह को मोड़ने का कठिन कार्य है;
यह कार्य तो कठिन है परंतु स्वयं करना है तुझे। २८६.
- ६३७ आधार बाह्य खोजना कुछ काम का नहि है तुझे;
आधार तो आत्म अपने का ही लेना होगा तुझे। २८६.
- ६३८ निर्लेप द्रव्य, पर्याय में निर्लेप रहेना है तुझे;
कहीं खेद नहीं, खिंचना नहीं, राग अधिक कहीं करना नहीं। २८७.
- ६३९ वस्तु सदा सूक्ष्म ही है, उपयोग स्थूल है हो गया;
सूक्ष्म तत्त्व पकड़ने लिये सूक्ष्म उपयोग का प्रयत्न करे। २८८.
- ६४० चैतन्य गहरी भावना भव अन्य में साथ ही रहे;
शाश्वत है यह आत्मा, संस्कार आते है साथ ही। २८९.
- ६४१ उपरी विचार से नहीं अंतर में मंथन करे;
तत्त्व विचार संस्कार ड़ाले वही साथ में आयँगे। २८९.
- “तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्॥”
- ६४२ प्रसन्न रखकर चित को यह बात आत्मा की सुनी—
वह भव्य भावि मुक्ति का अवश्य भाजन बने। २८९.
- ६४३ है ज्ञान प्रधान आत्मा अनंत गुणो का पिण्ड है;
तन्मय होना अंतर में करना वही कर्तव्य है। २९०.
- ६४४ स्वरूप को समझकर ‘मैं ज्ञायक हूँ’ यह लगन यदि—
लागी गई तो ज्ञायक सह तदाकारता है हो सके। २९०.
- ६४५ जिनमंदिर, प्रतिमा जिनेन्द्र की मंगल स्वरूपी होत है;
समवसरण में विराजते भगवान की तो बात क्या? २९१.
- ६४६ भगवान गुण महिमा अहो! सुरेन्द्र भी नहि कर सके;
दूसरे सभी महिमा अहो! किस रीत से है कर सके? २९१.

- ६४७ जिस समय परिणति ज्ञानी की है बाहर दिखायी दे;
उसी समय भी ज्ञायक उन्हे भिन्न ही है वर्तता। २९२.
- ६४८ जैसे किसी को मित्रता, पड़ोसी घर आता-जाता रहे;
परन्तु वह पड़ोसी को माने नहीं अपना कभी। २९२.
- ६४९ ज्ञानी नहीं विभाव में एकत्व परिणमन रखे;
निर्लेप कमल भांति रहे, उपर उपर है तैरते। २९३.
- ६५० है ज्ञानी की यह भावना इस समय पुरुषार्थ चले;
होकर मुनि केवल्य ले, नहीं बाहर कभी भी आयेंगे। २९३.
- ६५१ 'मैं ज्ञायक हूँ' परिणति रहे, ज्ञानी को अखण्डित सदा-
भक्त्यादि बाह्य प्रसंग में दिखते भले उल्लास से। २९४.
- ६५२ तब भी उनकी ज्ञायक की धारा चलती रहे अखंड से-
अंतर में ज्ञायक धारा भिन्न ही कार्य करती रहे। २९४.
- ६५३ दृष्टि अपेक्षा स्वीकार नहि पर्याय का गुण भेद का-
स्वरूप में स्थिरता की तो भी भावना वर्तती उसे। २९५.
- ६५४ रागांशरूप बहिर्मुखता दुःखरूप ही वेदाती है;
वीतराग - अंतर्मुखता सुखरूप वेदाती उसे। २९५.
- ६५५ बहिर्मुख जो वृत्ति आंशिक साधक न्यारा-न्यारा रहे;
किरकिरी समाती नहि आंख में, विभाव चैतन्य में नहीं। २९५.
- ६५६ साधक नहीं यदि बाह्य में है दुःख का वेदन करे-
अंतर में सुख नहि लगे अंतर में तो क्यों जायगा? २९५.
- ६५७ है 'राग आग दहनरूप' और राग 'विषकुंभ' कहा;
सर्वत्र एक ही है भाव कि-विभाव तो दुःखरूप ही है। २९५.
- ६५८ शुभभाव हो उच्च भले या राग हो अतिसूक्ष्म पर-
है जितनी प्रवृत्ति उसको, है इतनी ही आकुलता। २९५.
- ६५९ वह जितना निवृत्त होकर स्वरूप में लीन हुआ;
उतनी ही है शांति उसे एवं स्वरूपानंद भी है। २९५.

- ६६० है द्रव्य तो सूक्ष्म सदा उसे पकड़ने के लिये—
उपयोग को सूक्ष्म कर के गहराई में जाना तुझे। २९६.
- ६६१ पाताल कुँ की भाँति द्रव्य में गहराई तक—
जा उतर तो विभूति मिले, द्रव्य आश्चर्यकारी है। २९६.
- ६६२ तत्त्वानुसारी परिणमन करना ही तेरा कार्य है;
कार्य जड़ के तेरे नहीं चेतनरूप ही चेतन कार्य है। २९७.
- ६६३ वैभाविक है जो कार्य वही परमार्थ से तेरे नहीं;
ऐसा घुट जाना चाहिये विभाव जड़, मैं हूँ नहीं। २९७.
- ६६४ ज्ञानी निःशक है इतना, ब्रह्मांड सारा उलटता—
विभाव उदय बहोत तब भी चलित-पलटता नहीं। २९८.
- ६६५ प्रतिकूल हो संयोग पर ज्ञायक परिणति नहीं बदलती;
नहीं फेर श्रद्धा में पड़े चारित्र है बढ़ता रहे। २९८.
- ६६६ स्वतः सिद्ध ही वस्तु है स्वभाव उसके अनुकूल रहे;
रागादि जो विभाव वह प्रतिकूल, नहीं स्वभाव है। २९९.
- ६६७ परिभ्रमण करते आत्म का काल अनंत बीत गया;
उस काल में 'आत्मा का करना' भावना तो की मगर— ३००.
- ६६८ तत्त्व मंथन, तत्त्व रुचि नहीं है की उसने कभी;
आत्मा ही एक रुचे जीवन ऐसा बनाना चाहिये। ३००.
- ६६९ जीव राग और ज्ञानकी एकता में उलज गया;
अस्तित्व को यदि पकड़ सके, जाय उलजन निकल तो। ३०१.
- ६७० 'ज्ञायक हूँ मैं' अस्तित्व लक्ष में आना चाहिये;
'ज्ञायक अतिरिक्त पर सब' ऐसा उसमें है आ गया। ३०१.
- ६७१ नहीं ज्ञानी को कुछ चाहिये, संसार से भयभीत है;
संसार से होकर विमुख वह मोक्ष मार्ग पर चले। ३०२.
- ६७२ स्वभाव में सुभट रहे, अंतर से निर्भय है;
किसी से कभी डरते नहीं, उपसर्ग भय रखते नहीं। ३०२.

- ६७३ नहीं किसी का प्रवेश मुझ में ऐसा मान के निर्भय रहे;
विभाव को वे नाग काला मानकर है छोड़ते। ३०२.
- ६७४ सम्यग्दृष्टि को अखण्ड तत्त्व का आश्रय है;
दृष्टि छोटे अखण्ड से तो साधकपना ही न रहे। ३०३.
- ६७५ दृष्टि रहे अंतर में, चारित्र में है अपूर्णता;
दिखायी दे बाहर खड़ा परन्तु दृष्टि स्व में ही रहे। ३०३.
- ६७६ भगवान प्रतिमा देख होता 'स्थिर कैसे हो गये?'
प्रतिबिंब है चैतन्य का तू भी अरे! ऐसा ही है। ३०४.
- ६७७ भगवान जैसे पवित्र है वैसा ही मैं पवित्र हूँ;
निष्क्रिय, निर्विकल्प हूँ, सब पानी भरे मेरे सामने। ३०४.
- ६७८ तू देख अपन जैसा तू है वैसा ही तू प्रगट बने;
देवाधि तू, प्रगटता लिये उपयोग को सूक्ष्म करे। ३०५.
- ६७९ पोषण रुचि का और तत्त्व मंथन चैतन्य साथ यदि-
हो जाय एकाकार तो कार्य तुझ होता ही है। ३०६.
- ६८० अभ्यास से अनादि के विभाव में प्रेम लगे-
छोड़ उसको आत्मा रुचे, उसे दूसरा रुचता नहीं। ३०६.
- ६८१ आत्मा उसे गुप्त नहीं, अप्राप्य रहेता है नहीं;
विद्यमान है जाये कहाँ? अवश्य ही प्राप्त हो सके। ३०६.
- ६८२ उपदेश है तत्त्व का यह असिधारा के समान है;
यदि तद्रनुसार परिणति हो तो मोह जाय भाग रे। ३०७.
- ६८३ द्रव्य-गुण-पर्याय में ब्रह्मांड तत्त्व आ जात है;
द्रव्य अपन गुण रहकर पर्याय परिणमित होत है। ३०८.
- ६८४ पर्याय पहुँचती द्रव्य को और द्रव्य पर्याय को-
सूक्ष्मता को ले लक्ष में तो मोह कहाँ खड़ा रहे? ३०८.
- ६८५ हो बकरियों की टोली में सिंहबाल, बकरी मान ले-
पर सिंह गर्जना सुनते सिंहरूप पराक्रम करे। ३०९.

- ६८६ विभाव और पर साथ रहते, विभावरूप ही मान लिया;
गुरुवाणी को सुनने पर ही स्वरूप में है जाग उठे। ३०९.
- ६८७ 'ज्ञायक हूँ मैं' विभाव नहि, ऐसा समझ जाता वही—
ज्ञायकरूप इसरित वह परिणमित हो जात है। ३०९.
- ६८८ अद्भुत है चैतन्य उसमें ऋद्धि की न्यूनता नहीं;
रमणीय चैतन्य लोक से आना बाहर सुहाता नहीं। ३१०.
- ६८९ है ज्ञान की ताकात ऐसी जीव एक ही समय में—
निज ऋद्धि को है जान ले, अन्य सभी को भी जान ले। ३१०.
- ६९० वह श्रम बिना या खेद बिना क्षेत्र अपने में जानता;
अंतर रहकर सब जानता, बाहर झाँकने जाता नहीं। ३१०.
- ६९१ वस्तु अनादि-अनंत है, जो पलटता-बदलता नहीं;
दृष्टि करे, ध्यान करे, विभूति का अनुभव करे। ३११.
- ६९२ विभाव, सुखाभास, किसी बाह्य वस्तु से उसका मेल नहीं;
जो जानता, अनुभव करे, उपमा न लागू पड़ सके। ३११.
- ६९३ अनादि के एकत्व में सब एकमेक है हो रहा;
'मैं मात्र ज्ञान स्वरूप हूँ' इस प्रकार भिन्न हो सके। ३१२.
- ६९४ गोसलिया की भांति जीव विभाव में है मिल गया;
वहाँ 'ज्ञानडोरा' लक्ष से अपने को भिन्न पहिचानना। ३१२.
- ६९५ सज्जन साथी हो यदि तो मार्ग सरलता से कटे;
परमेष्ठी साथीदार तो सर्वोत्कृष्ट साथी मिल गया। ३१३.
- ६९६ इस काल में उत्तम साथी गुरुदेव हमें मिल गये;
साथी भले, ध्येय तक तो अपन को ही है पहुँचना। ३१३.
- ६९७ खण्ड खण्डरूप ज्ञान का उपयोग भी है परवशता;
परवशता सो दुःखी है, स्ववशपना सो सुखी है। ३१४.
- ६९८ शाश्वत शुद्ध चैतन्य के आश्रयरूप स्ववशपना—
शाश्वत सुख है प्रगटता, स्ववश सदा सुखी ही है। ३१४.

- ६९९ द्रव्यदृष्टि शुद्ध अंतःतत्त्व, सदा अवलंबन करे;
पर्याय निर्मल बहिःतत्त्व है, उसका भी अवलंबन नहीं। ३१५.
- ७०० चेतन परिणति में निज महिमा से तरा है जा सके;
बाह्य महिमा भक्ति का उससे तरा जाता नहीं। ३१६.
- ७०१ चेतन महिमावंत को भगवान महिमा होती है;
भगवान महिमा समझते चेतन महिमा समझ सके। ३१६.
- ७०२ वंदना, प्रतिक्रमण में मुनि लाचारी से युक्त बने;
भूमिकानुसार होते परन्तु लगता उपाधिरूप है। ३१७.
- ७०३ स्वभाव है निष्क्रिय बाहर आना सुहाता नहीं;
जो कर्म जिस को रुचे नहीं वह कार्य भाररूप लगे। ३१७.
- ७०४ जीव अपनी ही लगन से ज्ञायक परिणति प्राप्त करे;
ज्ञायक हूँ मैं, विभाव के भावों सभी से भिन्न रहूँ। ३१८.
- ७०५ पर्याय में अटकता नहीं, गुण अगाध से भरा हूँ मैं;
मैं ध्रुव हूँ, मैं शुद्ध हूँ, परम पारिणामिक मैं भाव हूँ। ३१८.
- ७०६ सम्यक प्रतीति लगन में विचार अनेक प्रकार के—
पर प्रतीति एक ही होती कि 'ज्ञायक सदा मैं एक हूँ' ३१८.
- ७०७ विभाव से होकर पृथक-चैतन्य को ग्रहना तुझे;
पर्याय सन्मुख देखकर पर्याय में कुछ करना नहीं। ३१९.
- ७०८ द्रव्यदृष्टि से पर्याय में रत्नत्रय आ ही जायँगे;
खोदे कुआँ, पानी मिले, लेने नहीं जाना पड़े। ३१९.
- ७०९ चैतन्य का पाताल यदि फूटा, शुद्ध पर्याय का—
प्रवाह अपने आप ही चैतन्य में चलने लगे। ३१९.
- ७१० चैतन्य धरती अनंत गुण बीज से भरी उपजाउ है;
इस धरती को ज्ञानादि से सींचने पर लहलहा उठे। ३२०.
- ७११ पर्याय पर दृष्टि करे चैतन्य प्रगट नहीं होत है;
सामर्थ्य भरा है द्रव्य में उस द्रव्यपर दृष्टि लगा। ३२१.

- ७१२ निगोद से सिद्ध तक की पर्याय, दृष्टि विषय नहीं;
साधक दशा भी दृष्टि के विषयभूत स्वभाव में नहीं। ३२१.
- ७१३ द्रव्यदृष्टि आगे बढ़े पर्याय दृष्टि नहीं बढ़े;
द्रव्यदृष्टि में मात्र शुद्ध अखण्ड का ही स्वीकार है। ३२१.
- ७१४ दृष्टि न ज्ञानी की कभी अखण्ड में है भेद करे;
विवेक करता है ज्ञान कि 'चैतन्य का भाव या यह पर है'। ३२२.
- ७१५ 'इतना सही-कचास है'—ऐसे परिणाम नहीं करे—
दृष्टि खड़ी रहती नहीं, है ज्ञान ही विवेक करे। ३२२.
- ७१६ यदि स्वाद चखा शांति का तो राग पुसाता नहीं;
वह परिणति में विभाव से दूर ही भागता है सदा। ३२३.
- ७१७ यदि एक ओर बर्फ ढेर और अग्नि दूसरी ओर हो;
दूर भागता वो अग्नि से और बर्फ की ओर ही ढले। ३२३.
- ७१८ सुख स्वाद जिसने चख लिया, शांति वेदन वर्त रहा;
वह राग से दूर भागता, शीतलता की ओर ढले। ३२३.
- ७१९ रत्न पर्वत एक और रत्नकण एक हो वहाँ—
कण तो नमूनरूप है मूल्य पर्वत का अत्यधिक है। ३२४.
- ७२० इस रीत केवल्य ज्ञान महिमा श्रुतज्ञान से अत्यधिक है;
एक समय में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सभी को जानता। ३२४.
- ७२१ श्रुतकेवली अंतमुहूर्त में सर्वश्रुत को फेरते—
केवल्य से है अल्प वह अंतर बड़ा बहुत है। ३२४.
- ७२२ किरण अनंत प्रकाशित हुआ, ऋद्धि चमत्कारिक हुई;
क्षायिक पूरण ज्ञान में क्षायोपशमिक में अंतर है। ३२४.
- ७२३ स्वानुभूति के समय या उपयोग हो बाहर यदि—
ज्ञानी की दृष्टि तो सदा अंतस्तलपर ही लगी रहे। ३२५.
- ७२४ वह एकमेक हुआ यदि दिखायी दे बाह्य कभी—
है तब भी गहरी गुफा में बाहर निकलता ही नहीं। ३२५.

- ७२५ स्पर्श किया तल का जिसने बाहर सब थोथा लगे;
चैतन्य तल पहुँच गया वह चेतन विभूति में पहुँच गया। ३२६.
- ७२६ रत्न हो, महल हो देव का, आत्मा को उससे क्या हुआ?
भोजन पकाते मानवी, अमृत देव को, सब है आकुलता। ३२७.
- ७२७ छह खण्ड साधक चक्रवर्ती राज्य में आकुलता;
ऋद्धि नहीं, शांति नहीं, बाह्य सभी क्या काम के? ३२७.
- ७२८ मुनिदशा का क्या कहे? झुलते है प्रमत्त-अप्रमत्त में—
है उन्हे तो सर्वगुण में सम्पन्न ही कहा जा सके। ३२८.
- ७२९ मुनिराज वारंवार चैतन्य नगर में प्रवेश कर—
अद्भूत ऋद्धि अनुभव कर आनंद-तरंग में डोलते। ३२९.
- ७३० अनंत गुण भरपूर चेतन देव भिन्न प्रकार की;
चमत्कारीक पर्यायरूप तरंग में डोलते सदा। ३२९.
- ७३१ मुनिराज और समकित्ती का संवेदन कोई ओर ही है;
वचनातीत है, शून्य नहीं, तू जा वहाँ, दर्शन होंगे। ३२९.
- ७३२ जागृतरूप ऋद्धि अलौकिक वेदन स्पष्ट अत्यंत है;
तू जा वहाँ, चैतन्य का दर्शन तुझे होंगे वहाँ। ३२९.
- ७३३ मुनिराज निज आत्म धाम में निवास करके उसमें—
एकाग्र होते विशेष वहाँ वीतरागता प्राप्त करे। ३३०.
- ७३४ वीतरागता से ज्ञान की अद्भुत शक्ति प्रगट हो—
उपयोग स्थूल छूटकर उपयोग सूक्ष्म हो जात है। ३३०.
- ७३५ वह ज्ञान अपने क्षेत्र रह जाता पहुँच सर्वत्र है;
है जानता लोकालोक को, महिमावंत केवलज्ञान में। ३३०.
- ७३६ हो भूत-वर्तमान की या भावि सर्व पर्याय को—
क्रम बिना ही एक समय में वर्तमानवत वे जानते। ३३०.
- ७३७ स्व की, अनंत परपदार्थ तीन काल की पर्याय को—
अनंत अविभाग प्रतिच्छेदो को एक समय में जानत है। ३३०.

- ७३८ अचिंत्य महिमावंत यह केवलज्ञान को वीतराग यह—
मुनिराज है प्राप्त करे, मुनिराज ऐसे होत है। ३३०.
- ७३९ जैसे कमल पंखुरियो हजार में है खिल उटे;
कैवल्य में चैतन्य भी अनंत गुण में है खिल उटे। ३३०.
- ७४० केवल्य में भगवान चेतन अनंत ज्ञान-आनंदादि की—
गुणों की पूर्ण पर्याय में सादिअनंत केलि करे। ३३०.
- ७४१ निज धाम के भीतर सदा शाश्वत है विराजते;
उसमें से फिर कभी भी वह बाहर ही आते नहीं। ३३०.
- ७४२ तू कहीं भी रुके बिना 'ज्ञायक ही हूँ' निर्णय करे;
श्रद्धा, ज्ञान में निर्णय करे, घोटन भी ज्ञायक का रखे। ३३१.
- ७४३ दुःख बल से एकान्त से वह अलग हो ऐसा नहीं;
परन्तु द्रव्यदृष्टि बल से एकान्त से अलग हो सके। ३३२.
- ७४४ दुःख लगता हो, सुहाता नहीं मगर अलग नहीं हो सके;
आत्म पहिचान बिना, जाने बिना वो जायेगा कहाँ? ३३२.
- ७४५ यदि आत्मा को जानता, यदि आत्मा पहिचानता;
अस्तित्व को ग्रहण करे तभी अलग है हो सके। ३३२.
- ७४६ 'आता मुझे' रे! चेतना!, इसमार्ग पर जाना नहीं;
विभाव के मार्ग पर तो है अनादि से चल ही रहा। ३३३.
- ७४७ सिर पर गुरु हो तो रोकते, हो लगाम तो पीछे मुड़े;
एक अपनी लगाम हो और दूसरी गुरु की चाहिये। ३३३.
- ७४८ रे! जानकारी के मान से दूर रहना ही अच्छा है;
बाह्य प्रसिद्धि प्रसंग से दूर भागने में लाभ है। ३३३.
- ७४९ बाह्य प्रसिद्धि के प्रसंग जो वह सब ही निःसार है;
सारभूत जो है एक वही निज आत्म का स्वभाव है। ३३३.
- ७५० आत्मार्थी को सान्निध्य गुरु के पुरुषार्थ सहज ही होत है;
सेवक हूँ मैं तो सदा, यह दृष्टि रहना चाहिये। ३३४.

- ७५१ 'में कुछ हूँ' हो भाव तो सेवकपना छूट जाता है;
सेवक रहे तो लाभ है आत्मा प्रगटने का निमित्त है। ३३४.
- ७५२ नहीं छोड़ना धर्म कभी संयोग चाहे जैसे भी हो;
रुचि भी अगर छूट गई तो मनुष्य भव हार ही गये। ३३५.
- ७५३ कर्म विपाक विविध में ज्ञायक कभी चलित नहीं;
निर्लेप कमल कीचड रहे, चैतन्य कर्म संयोग में। ३३६.
- ७५४ यदि द्रव्य को ग्रहण करे तो शुद्धता प्रगट सके;
चारित्र भी है प्रगटता ज्ञानी वहाँ नहीं रुकते। ३३७.
- ७५५ निज में बहोत पड़ा-भरा ज्ञानी वहाँ नहीं रुकता;
पर्याय में रुके-चिपकते तो मिथ्यात्व में आ जायँगे। ३३७.
- ७५६ शुभभाव में श्रम-थकान है, स्वभाव आत्मा का नहीं;
शुभभाव है स्वाधीन, नहि थकान, सुख ही है वहाँ। ३३८.
- ७५७ सूत लच्छी में गुत्थी पड़ी धैर्य से सुलझाये यदि;
तो सिरा हाथ में आ सके और गुत्थी भी सुलझ सके। ३३९.
- ७५८ चैतन्य डोर में पड़ी गुत्थी उसे यदि धैर्य से;
सुलझाने से सिरा मिले, दूर गुत्थी भी हो सके। ३३९.
- ७५९ 'इसका करुं, इसका करुं' है ध्यान बाह्य क्यों रुके?
इतना तू ध्यान है तेरा उसको अपने में ही लगा। ३४०.
- ७६० चैतन्य के आश्रय से अनंत और अद्भुत निज-
विभूति है प्रगट बने, आता नहीं क्या शक्ति से? ३४१.
- ७६१ अंतर में तू आत्म का, गुरु-देव-शास्त्र का बाह्य में-
प्रयोजन रखना है तुझे, क्या अन्य से प्रयोजन तुझे? ३४२.
- ७६२ देवादि को व्यवहार से साधनरूप है कहे गये;
आलंबन भी साधक को आये बिना रहता नहीं। ३४२.
- ७६३ शुभभाव को भी हेय कहा तो अशुभ की तो बात क्या?
अन्य पदार्थ से अरे! तुझ को प्रयोजन क्या रखा? ३४२.

- ७६४ आत्मा की मुख्यता पूर्वक देवादि आलंबन रहे;
साधक दशा में भाव शुभ आये बिना रहते नहीं। ३४२.
- ७६५ पद्मप्रभमलधारी देव मुनिराज भी ऐसा कहे—
जहाँ भी होउ जिनराज, पुनः पादपंकज की भक्ति मिले। ३४२.
- ७६६ पुरुषार्थ से स्वभाव परिणत टालकर विभाव सिद्ध हुए—
सिद्ध मंडली सम्मिलित होना तो कर अभी पुरुषार्थ तू। ३४३.
- ७६७ पुरुषार्थ बिना नहि किसी का भवान्त तो आता कभी—
घोड़ा छलांग से कोई और कोई है धीरे पहुँचता। ३४३.
- ७६८ पुरुषार्थ से है पा सके, स्थिर रहकर, आगे बढ़े;
अंतर लाओ पुरुषार्थ तो स्वभाव सहज प्रगट सके। ३४३.
- ७६९ सामान्य-ध्रुवतत्त्व जब तक ख्याल में यदि आया नहीं;
मार्ग अंतर सुझता कहाँ, प्रगट भी कहाँ से हो सके? ३४४.
- ७७० सामान्य का कर ख्याल तू, आश्रय भी उसका रखे;
प्रारंभ से पूर्णता तक आश्रय ज्ञायक का ही रहे। ३४४.
- ७७१ ज्ञायक का या ध्रुव का जोर क्षण भी हटता नहीं;
दृष्टि नहीं ज्ञायक सिवा है किसी को भी स्वीकारती। ३४४.
- ७७२ दृष्टि कभी ध्रुव के सिवा किसी पर ध्यान देती नहीं;
पर्याय हो शुद्ध, अशुद्ध हो, गुणभेद पर ध्यान नहीं। ३४४.
- ७७३ साथ वर्तता जो ज्ञान वो विवेक है सबका करे;
तो भी विषय जो दृष्टि का, 'ज्ञायक' कभी छूटता नहीं। ३४४.
- ७७४ गुरुदेव का उपदेश यह, शास्त्र भी ऐसा ही कहे—
वस्तु स्थिति भी ऐसी है, निश्चय ऐसा मानना। ३४४.
- ७७५ मार्ग स्वरूप संक्षेप में, थोड़ा कहा बहुत मानना;
अंतर में ज्ञायक कहा वो आत्मा को साधना। ३४५.
- ७७६ विस्तार किया जाय तो अनंत रहस्य निकल सके;
क्योंकि वस्तु में अहा! अनंत भाव है भरे पड़े। ३४५.

- ७७७ सवार्थ सिद्धि देव भी तेंतीस सागरोपम अहा !
धर्म चर्चा, स्तुति करे, संक्षेप सब का है यही । ३४५.
- ७७८ 'शुभ-अशुभ से न्यारा सदा, ज्ञायक का आश्रय करे;
ज्ञायक परिणति करे' संक्षेप यह तू जानना । ३४५.
- ७७९ गुरुदेव ने जागृत किये है जीव भारत के सभी-
नहि स्पष्टता हुई सैकड़ों वर्ष में, अधिक करी उन्होंने । ३४६.
- ७८० समझ सकते बालक भाषा ऐसी में मारग खोल दिया;
अद्भुत है प्रताप, अभी तो लाभ लेने का यह काल है । ३४६.
- ७८१ कुछ नहि मुझ को चाहिये शांति ही एक चाहिये;
शांति कहींपर भी नहीं, विभाव आकुलता ही है । ३४७.
- ७८२ उबकर अशुभ से शुभ में और शुभ से थक कर अशुभ में-
काल अनंतानंत बीत गया, शांति ही अब तो चाहिये । ३४७.
- ७८३ गहराई से हो भावना, स्वरूप की पहिचान करे;
प्रतीति करे, शांति सच्ची प्राप्त हुए बीना ना रहे । ३४७.
- ७८४ रुचि उग्रता से सहज लगे, रुचि मंदता से कठिन लगे;
पुरुषार्थ लगता सरल या कठिन रुचि के प्रमाण में । ३४८.
- ७८५ प्रमाद से दुर्गम है, पुरुषार्थ से प्राप्त बने;
अपना ही है कारण सर्वत्र अन्य नहीं कारण, अरे ! ३४८.
- ७८६ सुखधाम है, आश्चर्यकर निधि एक तेरा आत्मा;
महिमाकर, पुरुषार्थ से प्रमाद तोड़ना चाहिये । ३४८.
- ७८७ चक्रवर्ती, बलदेव और तीर्थकर भी चल पड़े;
यह राज्य, यह वैभव, कुछ भी हमे नव चाहिये । ३४९.
- ७८८ करके उपेक्षा सर्व की एक साधना की धुन में-
वे अकेले ही जंगल की ओर स्वयं ही चल पड़े । ३४९.
- ७८९ कमी नहीं किसी प्रकार की, चाहे वही मिलता जिन्हे;
इन्द्र करते सेवा सदा, भगवान कह आदर करे । ३४९.

- ७९० उत्कृष्ट पुण्य के धनी बाह्य ऋद्धि को छोड़कर—
उपसर्ग की परवाह बिना ध्यान करने वन में चले। ३४९.
- ७९१ होगा लगा महिमावंत आश्चर्यकारी आत्मा;
बाह्य सब कुछ तुच्छ जानकर जंगल की ओर चल पड़े। ३४९.
- ७९२ इसलिये तू लाकर के महिमा आश्चर्यकर यह आत्म का—
स्वयं उसकी पहिचान कर तू प्राप्ति का पुरुषार्थ कर। ३४९.
- ७९३ तू स्थिरता अपेक्षा से नहीं तो श्रद्धा अपेक्षा छोड़ तू;
छोड़ने से कुछ नहि जायगा, आत्म प्राप्ति होगी तुझे। ३४९.
- ७९४ जीव ज्ञान और क्रिया स्वरूप को नहि जानता—
'स्वयं कर रहा दोनों' भ्रमणा ऐसी का है सेवन उसे। ३५०.
- ७९५ भंगभेद, बाह्य ज्ञान, धारणा ज्ञान को 'ज्ञान' कहे;
परत्याग-ग्रहण, देह क्रिया, शुभभाव को 'क्रिया' मानता। ३५०.
- ७९६ आता मुझे है इतना, क्रिया कठिन करता हूँ मैं;
वह कल्पना करके बहुत, रहते मिथ्या संतोष में। ३५०.
- ७९७ स्वानुभूति बिना 'ज्ञान' नहीं, ज्ञायक आलम्बन से;
स्वभावरूप से परिणमित 'क्रिया' सच्ची, अन्य नहीं। ३५०.
- ७९८ पौद्गलिक क्रिया कभी यह आत्मा नहि कर सके;
जड़ कार्य रूप जड़ परिणमित, नहि आत्मा से बन सके। ३५०.
- ७९९ कार्य शरीर के मेरे नहीं, विभाव स्वरूप परिणति नहीं;
मैं तो सदा ज्ञायक ही हूँ, यह परिणति साधक की रहे। ३५०.
- ८०० मोक्षार्थी को निज जीवन में ऐसा घुँट जाना चाहिये;
सविकल्प प्रथम हो भले, पक्का निर्णय करना चाहिये। ३५०.
- ८०१ पुरुषार्थ यदि जल्दी करे, जल्दी निर्विकल्प बने;
पुरुषार्थ में हो देर तो देर से ही दर्शन हो सके। ३५०.
- ८०२ निर्विकल्प स्वानुभूति से स्थिरता बढ़ाते मोक्ष मिले;
इस विधि सिवा विधि अन्य से मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सके। ३५०.

- ८०३ किसी भी प्रसंग में एकाकार कभी हो जाना नहीं;
प्रथम भूमिका में भी उसे 'मात्र मोक्ष अभिलाष' रहे। ३५१.
- ८०४ जो मोक्ष का ही अर्थी रहा, संसार से जो थक गया;
गुरुदेव वाणी स्रोत बहे, मार्ग जिस में से है सूझता। ३५१.
- ८०५ यदि थकान अंतर से लगे ज्ञानी सूझाते है दिशा-
अंतर प्रयत्न से ही उसे है आत्मा तो मिल सके। ३५१.
- ८०६ परिपूर्ण प्रभु मैं द्रव्य से भगवान हूँ, कृतकृत्य हूँ;
'पर्याय से पामर हूँ मैं' ऐसा मुनि है जानते। ३५२.
- ८०७ गणधर कहते जिनेन्द्र आप के ज्ञान को नहीं पा सकुं-
एक समय के इस ज्ञान में अपनी और लोकालोक की- ३५२.
- ८०८ पर्याय अनंत ज्ञात बने, कहाँ आप का वह ज्ञान जो-
अनंत द्रव्य-पर्याय को जानता, कहाँ अल्प मेरा ज्ञान रे! ३५२.
- ८०९ आप अनुपम आनंदरूप संपूर्ण परिणमित हो गये;
कहाँ आप का आनंद पूर्ण? कहाँ-अल्प मेरा आनंद रे! ३५२.
- ८१० अनंत गुणो की पर्याय पूर्ण में आप तो संपूर्ण तया-
है परिणमित हो गये, क्या आप की महिमा करे? ३५२.
- ८११ है आप को तो द्रव्य जैसा पर्याय वैसी बन गई;
और मेरी यह पर्याय तो अनंत वे ही भाग रही। ३५२.
- ८१२ इस रीत प्रत्येक साधक द्रव्य अपेक्षा से अपने को-
भगवान मानता होने पर भी है वो जानता- ३५२.
- ८१३ वह ज्ञान एवं आनंद और चारित्र-विर्यादि सभी-
पर्याय अपेक्षा से अपनी पामरता है पहिचानता। ३५२.
- ८१४ चेतन परम पारिणामिक की पद्मप्रभमल धून लगायी है;
महिमावंत यह पवित्र के आश्रय से पूर्णता होती है। ३५३.
- ८१५ जो मलिन, अंशतः निर्मल अथवा जो अधूरा ही हो;
हो शुद्ध एवं पूर्ण पर सापेक्ष हो, अध्रुव हो- ३५३.

- ८१६ त्रिकालिक परिपूर्ण सामर्थ्यवान भी जो है नहीं;
आश्रय उसका जो करे, शुद्धता प्रगट नहीं हो सके। ३५३.
- ८१७ इसलिये औदयिक एवं क्षायोपशमिक भाव हो यदि—
औपशमिक क्षायिक सब अवलंबन के योग्य नहीं। ३५३.
- ८१८ जो पूर्ण, निर्मल परिपूर्ण है परम निरपेक्ष है ध्रुव सदा—
त्रिकाल पूर्ण सामर्थ्यवंत परम पारिणामिक जो। ३५३.
- ८१९ है वो ही पारमार्थिक जो है असली वो ही वस्तु का—
आश्रय करने योग्य है, लेने शरण योग्य वही। ३५३.
- ८२० है उससे ही समकित से मोक्ष तक की सब दशा—
प्राप्त बने, इसलिये वही अवलंबन करने योग्य है। ३५३.
- ८२१ भाव सहज से विद्यमान, ज्ञान-दर्शन-आनंदादि जो—
गुण है अनंत वे पद्यपि पारिणामिकरूप ही है सभी। ३५३.
- ८२२ तो भी वे चेतन द्रव्य के एक एक अंश रूप होने कारण से—
वह भेदरूप अवलंबन से निर्मलता परिणमित नहीं। ३५३.
- ८२३ यह परम पारिणामिकरूप अनंत गुण स्वरूपी—
अखंड-अभेद परमात्म द्रव्य का ही आश्रय करे। ३५३.
- ८२४ दृष्टि वहीं, शरण उसका, ध्यान भी उसका ही करे;
जिससे अनंत निर्मल पर्यायि स्वयं है खिल उठे। ३५३.
- ८२५ द्रव्यदृष्टि करके अखण्ड एक ज्ञायक वस्तु को—
लेकर लक्ष, अवलंबन करो, आश्रय भी उसका करो। ३५३.
- ८२६ अनंत गुणमय आत्मा, परन्तु दृष्टि न भेदों को ग्रहे;
वह एक-अखण्ड-त्रैकालिक को अभेदरूप ग्रहण करे। ३५३.
- ८२७ पावन पंचम भाव पूजनीय आश्रय से समकित मिले;
होकर मुनि, सुख-शांति वीतरागता से मुक्ति मिले। ३५३.
- ८२८ तीर्थकर प्रकाशित यह दिगंबर धर्म ही सत्य है;
गुरुदेव ने युक्ति-न्याय से स्पष्ट रूप समझाया उसे। ३५४.

- ८२९ मार्ग छानबीन खूब की है, द्रव्य की स्वतंत्रता—
द्रव्य - गुण - पर्याय को, निमित्त - उपादान को— ३५४.
- ८३० निश्चय और व्यवहार को, आत्म शुद्ध स्वरूप को—
समकित्त, स्वानुभूति को, मोक्षमार्ग, सत्यरूप कहा। ३५४.
- ८३१ गुरुदेव की श्रुतधार है ओर, तरने का मार्ग बतला दिया;
प्रवचन उनका कितना मथ-मथकर है निकल रहा। ३५४.
- ८३२ उनके प्रताप से बहुत जीव है मार्ग को समझ रहे;
पंचम काल में सुयोग हुआ, अपना परम सद्भाग्य है। ३५४.
- ८३३ उपकार सब गुरुदेव का गुरु गुणो से भरपूर है;
महिमावंत वह गुरु चरण की सेवा हृदय में बसी रहे। ३५४.
- ८३४ उपाय तरने का बाहरी चमत्कारो में नहीं रहा;
चमत्कार है जो बाह्य में वह साधक का लक्षण नहीं। ३५५.
- ८३५ चमत्कार चेतन द्रव्य में साधक का लक्षण है;
एक कण भी यदि राग का हितकर माने, दर्शन नहीं। ३५५.
- ८३६ निस्पृह ऐसा हो जा कि अन्य कुछ नहीं चाहिये;
मुझ को अरे! अब मेरा अपना ही अस्तित्व चाहिये। ३५५.
- ८३७ लगन लगती एक आत्म की उत्थान अंतर से हो यदि;
तो परिणति यह आत्म की पलटे बिना रहेती नहीं। ३५५.
- ८३८ मुनिराज का निवास चेतन देश में ही होत है;
उपयोग तीक्ष्ण होकर गहरी गुफा में चले जात है। ३५६.
- ८३९ यदि बाह्य में आ जात तो मुरदा समान दशा दिखे;
शरीर प्रति राग छूट गया, शांति सागर उमड़ गया। ३५६.
- ८४० चैतन्य की पर्याय में तरंग विविध उछल रही;
है ज्ञान में कुशल रहे, दर्शन में वे प्रबल है। ३५६.
- ८४१ वेदक रहे समाधि के अंतर में तृप्त-तृप्त है;
वीतरागता की मूर्ति हो इस प्रकार परिणमित हुए। ३५६.

- ८४२ मुनिराज के शरीर में वीतराग दशा है छा गई;
जिन है नहीं, परन्तु मुनि जिन सरीखे ही सही। ३५६.
- ८४३ जीव अकेला ही जन्मता, जीव अकेला मरता रहे;
परिभ्रमण अकेला ही करे, जीव अकेला मुक्त बने। ३५७.
- ८४४ नहि साथ किसी का उसे, भ्रांति से आश्रय मानता;
ब्रह्मांड में भटकते हुए, जीव ने है इतने मरण किये। ३५७.
- ८४५ उसके मरण के दुःख में माता की आंखो से है इतने—
आंसू बहे, इकट्ठे करे उनसे समुद्र भरा जा सके। ३५७.
- ८४६ भव परिवर्तन करते हुए बड़ी मुश्किल से तुझे—
है मनुष्यभव प्राप्त हुआ, योग उत्तम ऐसा मिला। ३५७.
- ८४७ उसमें अभी हित आत्म का जल्दी कर लेना जरूरी है;
बिजली चमक में मोती पिरो लेने जैसा वही है। ३५७.
- ८४८ यह भव और संयोग सब बिजली भांति विलिन बने;
दुःखी अकेला तू हुआ, सुख-मुक्ति अकेला प्राप्त करे। ३५७.
- ८४९ गुरुदेव मार्ग को अत्यंत स्पष्ट है बतला रहे;
आचार्य मार्ग प्रकाशते, गुरुदेव स्पष्ट कर रहे। ३५८.
- ८५० जैसे तेल डाले माँग में, सूक्ष्मता से समझा रहे;
गुरुदेव भेद ज्ञान का मारग हथेली में दिखला रहे। ३५८.
- ८५१ मसलकर तैयार करके वे माल को है दे रहे;
'खा ले अभी' देते मगर खाना अब अपने को ही है। ३५८.
- ८५२ नहि नाश है, मलिन नहीं, नहि न्यूनता, है देह से—
भिन्न सदा, तत्त्व सहज को उपसर्ग भी छूते नहीं। ३५९.
- ८५३ तलवार है नहीं छेदती, अग्नि जलाती है नहीं;
रागादि से विकारी नहीं, काल अनंत ज्यों का त्यों रहे। ३५९.
- ८५४ कोई पहिचानता हो या नहीं, तू तो सदा ऐसा ही रहे;
मुनि, सुदृष्टि हृदय कमल के सिंहासन में है बिराजता। ३५९.

- ८५५ सुदृष्टि को पुरुषार्थ रहित काल कोई होता नहीं;
धारा चलती ही रहे, हठ पूर्वक नहीं वह सहज है। ३६०.
- ८५६ दृष्टि प्रगट हुई वो एक ओर पड़ी हो ऐसा है नहीं;
'जैसे अग्नि ढकी हो पड़ी' ऐसा दृष्टि में होता नहीं। ३६०.
- ८५७ ज्ञातृत्व धारा का प्रगट वेदन अंतर होत है;
धारा चले पुरुषार्थ से तत्त्व अविचल ही रहे। ३६०.
- ८५८ प्रतिकूलता के आये समूह, ब्रह्मांड में खलबली मचे;
तथापि परिणति डोले नहीं, ऐसी दशा सहज ही रहे। ३६०.
- ८५९ ज्ञायक स्वरूपी तुझ से अन्य सब कुछ अलग पड़ा;
मात्र तू ने साथ उसके बुद्धि एकत्व की है रखी। ३६१.
- ८६० शरीर नहीं, वाणी नहीं, विभाव भाव मेरे नहीं;
सिद्ध समान स्वरूप मुझ, श्रद्धा कर यथार्थ तू। ३६१.
- ८६१ शुभभाव से होगी मुक्ति, शुभभाव यदि चले जायँगे—
सब जायगा, शून्य बन्नूँ, ऐसी श्रद्धा को छोड़ना। ३६१.
- ८६२ अनंत स्वाभाविक शक्तियों से भरा पदार्थ तू;
श्रद्धा करे, आगे बढे, इसी मार्ग से मुक्ति मिले। ३६१.
- ८६३ अज्ञानी को 'मैं शरीर हूँ', 'यह शरीर मेरा' है रहे;
ऐसा सहज, नहीं घोखना, याद करना पड़ता नहीं। ३६२.
- ८६४ तो ज्ञानी को 'ज्ञायक हूँ मैं, अन्य कुछ भी मेरा नहीं'
है सहज, नहीं घोखना—याद करना पड़ता नहीं। ३६२.
- ८६५ आश्चर्यकर ऋद्धि महल में अनंत दर्शनीय है;
मुनिराज चैतन्य लोक में निवास कर अवलोकते। ३६३.
- ८६६ आनंदरूप स्वादिष्ट भोजन थाल है भरे हुए;
मुनिराज है भोजन करे, समरसमय दशा उसकी रहे। ३६३.
- ८६७ शास्त्र रहस्य जो गहन है सुलझाकर सत्य ढूँढकर—
स्पष्टरूप गुरु ने रखा, नहीं ढूँढने जाना पड़ा। ३६४.

- ८६८ गुरुदेव का प्रताप ही कोई अद्भुत है रहा;
‘आत्मा’ शब्द बोलना सीखे हम गुरु प्रताप से। ३६४.
- ८६९ ‘चैतन्य हूँ’, ‘ज्ञायक सदा’ गुरु प्रताप से ही जान सके;
दुर्लभ थी जो बात वह भेदज्ञान झरने वह रहे। ३६४.
- ८७० गुरुदेव मानो हाथ पकड़कर सब कुछ है सिखा रहे;
पुरुषार्थ से तू सीख ले, अवसर चूकना योग्य नहीं। ३६४.
- ८७१ जीव-काल दोनो है अनादि जीव ने न दो प्राप्त किया;
जिनराजस्वामी-सम्यकत्व जीव ने नहीं प्राप्त किया। ३६५.
- ८७२ जिनराजस्वामी तो मिले पर उन्हे पहिचाना नहीं;
जिससे मिलना वह न मिलने के बराबर ही मानना। ३६५.
- ८७३ जीव अंतर में जाता नहीं, और नवीनता प्राप्त नहीं;
शुभ-अशुभ पिष्ट-पेषण करे एक विषय का, थकता नहीं। ३६५.
- ८७४ वह अशुभ में से शुभ में फिर शुभ में से अशुभ में—
शुभभाव से मुक्ति यदि तो कब की होती मिल गई। ३६५.
- ८७५ विश्वास छोड़कर शुभ का अपूर्व नवीन भाव करे;
सम्यक परिणति यदि करे शाश्वत सुख को प्राप्त करे। ३६५.
- ८७६ जो आत्मा पहिचानते-अनुभव करें तो समीप है—
पर्याय में शुद्धात्मद्रव्य ही उसे मुख्य रहे। ३६६.
- ८७७ शुभभाव आये तब कहीं शुद्धात्मा विस्मृत नहीं;
इस समय में भी शुभभाव मुख्यता कभी पाते नहीं। ३६६.
- ८७८ मुनिराज पंचाचार में व्रत-नियमादि शुभभाव में—
भेद ज्ञान की धारा, शुद्ध चारित्र दशा चलती रहे। ३६६.
- ८७९ शुभभाव नीचे ही रहे, आत्मा उँचा-उर्ध्व ही रहे;
सब कुछ पीछे रह जात है, आगे शुद्धात्म द्रव्य रहे। ३६६.
- ८८० जिनवाणी में है अतिशयता, होते रहस्य अनंत है;
उस वाणी से जीव बहुत है मार्ग को प्राप्त करे। ३६७.

- ८८१ संपूर्ण चेतन द्रव्य तो भी वाणी में आता नहीं;
अदभुत-अनुपम तत्त्व को स्वानुभव में ही पहिचान सके। ३६७.
- ८८२ पंचेन्द्रिय-मनुष्यपना, उत्तम कुल मिलना दुर्लभ है;
सतधर्म का श्रवण मिलना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। ३६८.
- ८८३ गुरुदेव सातिशय ज्ञानधर, पुरुषार्थ प्रेरक वाणी का-
है योग काल अनंत में, पुण्योदय से प्राप्त हुआ। ३६८.
- ८८४ प्रमाद छोड़ पुरुषार्थ का सब सुयोग है प्राप्त हुआ;
ले लाभ-सावधानी-पहिचान से, भ्रमण का अंत करे। ३६८.
- ८८५ जड़ शरीर नहि चैतन्य को, भव का परिचय भी नहीं;
शुभाशुभ परिणति है नहीं, यह सब का वहाँ सन्यास है। ३६९.
- ८८६ अनंतभव परिणमन में गुण हीनरूप-विपरीतरूपे-
परिणमित हुए, पर मूल तत्त्व-गुण सभी ज्यों के त्यों रहे। ३६९.
- ८८७ ज्ञानगुण हीन परिणमित हुआ, सामर्थ्य में न्यूनता नहीं;
आनंद का अनुभव नहीं पर नष्ट, घिस चला गया नहीं। ३६९.
- ८८८ भटकता अनादि काल से, शक्तिरूप ज्यों का त्यों रहा;
है जानता अल्प-अधिक, रुकता भी है आकुलता में- ३६९.
- ८८९ तो भी द्रव्य-गुण सभी है स्वयमेव सुरक्षित रहे;
समकिति को स्वरूप की अनुभव युक्त प्रतीति होती है। ३६९.
- ८९० आत्मा का करना हो जिसे ध्येय सन्मुख रखना उसे;
कार्यो की गिनती अपेक्षा ध्येय ही वो मुख्य रखे। ३७०.
- ८९१ प्रवृत्तिरूप कार्य सभी भूमिकानुसार होते मगर;
रखकर मुख्य आत्म को ज्ञानी क्रिया को देखते। ३७०.
- ८९२ उनके सर्व कार्य में उसे 'आत्मा समीप जिसे रहे;
ऐसा ही होता है सदा, नहीं ध्येय को भूलते कभी। ३७०.
- ८९३ जैसे स्वप्न लड्डु खाने से भूख तो कभी मिटती नहीं;
जैसे मरीचिका जलसे प्यास कभी बुझती नहीं। ३७१.

- ८९४ वैसे ही पर पदार्थ से सुखी नहीं है हो सके;
विश्वास करना आत्म का सुखी होने का उपाय है। ३७१.
“इस में सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे;
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे।”
- ८९५ पाताल कुआँ खोदते पथर पर्त टूटकर—
छेद होते पिचकारी उड़े तब जोर ख्याल आ सके। ३७२.
- ८९६ ऐसे सूक्ष्म उपयोग से गहराई में तल तक पहुँचते;
समकित में आंशिक शुद्ध पर्याय फूटती है वहाँ। ३७२.
- ८९७ पर्याय उसको वेदते अंतर अनंत सामर्थ्य जो—
अनुभव में वह आ सके, ख्याल में वह आ सके। ३७२.
- ८९८ तालें सभी की कुंजी एक है ‘ज्ञायक अभ्यास सदा रखो’;
इससे बंध ताले सभी तुरंत ही खुल जायँगे। ३७३.
- ८९९ संसार काराग्रह से छूटकर मुक्तिपुरी जाना यदि;
रागादि ताले खुल सके ज्ञायक अभ्यास की कुंजी से। ३७३.
- ९०० शुभ की रुचि भव की रुचि है मोक्ष की रुचि वह है नहीं;
संतुष्ट मंदकषाय में वह अकषाय को पाता नहीं। ३७४.
- ९०१ गुरुदेव पुकारकर कहे ज्ञायक का आश्रय कर के—
होना शुद्ध है एक पद, शेष सब तो अपद ही है। ३७४.
- ९०२ पहिचानकर चेतन तत्त्व की, अभ्यास चेतन का करे;
अभ्यास भेदज्ञान का एक ही सही कर्तव्य है। ३७५.
- ९०३ अभ्यास यह करते हुए यदि आतमा रागादि से—
भासित होता भिन्न तो स्वरूप प्राप्ति हो सके। ३७५.
- ९०४ ‘में कर सकूँ परका’ यह जीव का है भ्रम रहा;
स्वतंत्र है सब द्रव्य नहीं पर का कुछ भी कर सके। ३७५.
- ९०५ प्रत्येक द्रव्य ज्ञाता स्वयं, ज्ञायक भी प्रत्येक रहा;
पर में न ज्ञान जाता कभी, पर में से कुछ आता नहीं। ३७५.

- १०६ यह समझ ने देवादि के बाह्य निमित्त होत है;
दर्शनादि प्रगट जो होत है अपने में से प्रगट वो जानना । ३७५.
- १०७ मूल तत्त्व की पहिचान कर, दूसरा बाहर का बहुत किया;
शुभभाव की क्रिया सब की, शुभभाव में माना धरम । ३७५.
- १०८ परन्तु धर्म तो शुद्ध भाव में, शुभ को विभाव जानना;
आकुलता दुःखरूप है, शांति नहीं उस में कहीं । ३७५.
- १०९ शुभभाव आये बिन ना रहे तो भी उसमें शांति नहीं;
शांति और सुख से भरा आनंदरूप है आतमा । ३७५.
- ११० पहिचान कर प्रयास स्थिर होने का करे यथार्थ है;
वह एक ही करने योग्य है, हितरूप-कल्याणरूप है । ३७५.
- १११ पूर्ण गुणों से अभेद ऐसे पूरण आतम द्रव्य पर-
दृष्टि आलंबन करे तो पूर्णता प्रगट सके । ३७६.
- ११२ यह अखण्ड आलंबन परम पारिणामिक आलंबन है;
उससे प्रगट औपशमादिक पर्याय का वेदन होत है । ३७६.
- ११३ जोर उनपर तो है नहीं आलंबन भी उनपर नहीं;
रे, जोर तो सदा अखण्ड शुद्ध द्रव्य पर ही होत है । ३७६.
- ११४ क्षायिक भी आश्रय नहीं, आलंबन भी उसका नहीं;
क्योंकि वह पर्याय है, वह तो विशेषभाव है । ३७६.
- ११५ सामान्य के आश्रय से शुद्ध विशेष है प्रगटता;
इस ध्रुव के आलंबन से निर्मल का उत्पाद है । ३७६.
- ११६ सब छोड़कर शुद्धात्म परम पारिणामिक भाव में-
दृष्टि-निरंतर जोर रख, उपयोग को वहाँ ढालना । ३७६.
- ११७ स्वभाव में से आनंद प्रगटाने मुनि जंगल वसे;
निरंतर परम पारिणामिक में उनको लीनता रहे । ३७७.
- ११८ दिनरात रोमरोम में एक आतमा ही रम रहा;
है शरीर, पर चिंता नहीं, देहातीत जैसी है दशा । ३७७.

- ९१९ उत्सर्ग एवं अपवाद की मैत्रीपूर्वक रहत है;
पोषण करके आत्म का, विभाव भाव का शोषण करे। ३७७.
- ९२० अङ्गन दिखे तो जोर से बालक पल्ला मात पकड़ता;
उपसर्ग में पुरुषार्थ से निजात्म को मुनि पकड़ते। ३७७.
- ९२१ 'ऐसी पवित्र मुनिदशा कब हम अहो! प्राप्त करे';
ऐसे मनोरथ समकित्ती को वर्तते रहते है सदा। ३७७.
- ९२२ स्वभाव की महिमा हुई, विषय महिमा तुच्छ लगे;
महिमा कषायों की टूट जाती है सच्चे आत्मार्थी को। ३७८.
- ९२३ समझ में उसे निमित्तभूत देवादि महिमा आयेगी;
कार्य कोई भी करते हुए स्वभाव प्राप्ति का खटका रहे। ३७८.
- ९२४ गृहस्थाश्रम स्थित ज्ञानी को शुभ अशुभ से भिन्न सदा-
ज्ञायक अवलंबन करती ज्ञातृत्व धारा वर्तती। ३७८.
- ९२५ पुरुषार्थ की निर्बलता से अस्थिररूप विभाव है;
गृहस्थ संबंधी इसलिये शुभाशुभ परिणाम रहे। ३७८.
- ९२६ स्वरूप स्थिर न रह सके शुभ विविध भाव युक्त रहे;
हो देव-गुरु समीपता, चरण कमल की सेवा रहे। ३७८.
- ९२७ इत्यादि भक्ति-स्तवन-पूजन सेवा के भाव रहे;
स्वाध्याय, ध्यान, अणुव्रतादि भाव हठ बिना रहे। ३७८.
- ९२८ इन सभी जो भाव है कहे उनके बीच ज्ञातृत्व की-
परिणति की धारा अहा! सतत चलती ही रहेती वहाँ। ३७८.
- ९२९ निजस्वरूप रमनेवाले मुनिराज को भी पूर्ण वह-
वीतरागदशा अभाव में शुभ-अशुभादि भाव होत है। ३७८.
- ९३० व्रतो महा, मूलगुण और आचार, स्वाध्यायादि के-
और ध्यान इत्यादि के शुभभाव तो आते ही है। ३७८.
- ९३१ भक्ति जिनेन्द्र, गुरु, श्रुत की, उल्लासमय भाव भी है;
'जिनेन्द्र दर्शन, चरण कमल की प्राप्ति से क्या नहीं मिले?' ३७८.

- ९३२ अर्थात् आप मिल गये मुझ को सब कुछ है मिल गया;
ऐसे पद्मनदी आदि मुनि ने भक्ति के स्रोत बहाये है। ३७८.
- ९३३ ऐसे अनेक प्रकार के शुभभाव हठ बिना रहे;
साथ ही ज्ञायक अवलंबन से ज्ञातृत्व धारा चलती रहे। ३७८.
- ९३४ साधक, मुनि, समकिती को, शुभभाव जो आते सभी-
ज्ञातृत्व परिणति विरुद्ध, दुःखरूप ही वेदन होत है। ३७८.
- ९३५ वह हेय रूप ज्ञात रहे आकुलतारूप होत है;
तथापि उस भूमिका में आये बिना रहते नहीं। ३७८.
- ९३६ साधक दशा त्रिपटी कही आश्रय ज्ञायक का रहे;
शुद्धात्म जोर निरंतर, शुद्धाशुद्ध अंश उपेक्षित रहे। ३७८.
- ९३७ दूसरा शुद्ध है जो अंश वह सुखरूप वेदात है;
तीसरा अशुद्धांश कहा, शुभभाव वह उपाधि है। ३७८.
- ९३८ साधक को शुभभाव तो उपाधिरूप ही लगत है;
हठपूर्वक नहीं होत है, सहज दशा का होत है। ३७८.
- ९३९ 'ये भाव में यदि नहीं करूं, पर भव दुःख सहना पड़े';
अज्ञानी सम भय सहित, जबरन ये नहीं होत है। ३७८.
- ९४० तो भी सुखरूप नहीं मानते, शुभाशुभ साथ वर्तती-
ज्ञायक को अवलंबती परिणति को सुखरूप मानते। ३७८.
- ९४१ दिखाने-चवाने के दांत, हाथी के अलग ही होत है;
साधक भी शुभ परिणाम में उसी प्रकार अलग रहे। ३७८.
- ९४२ अंतर शांति-तृप्ति के परिणाम भी अलग रहे;
बाह्य क्रिया आधार से अंतर पहिचान न हो सके। ३७८.
- ९४३ सर्वोत्कृष्ट जगत में आतमा, आनंद-रस भरपूर है;
गुणमणियों के भंडार को पहिचान करना तू अभी। ३७९.
- ९४४ दिव्य स्वरूपी आत्म की दिव्यता पहिचानी नहीं;
परवस्तु को मूल्यवान मान प्राप्ति का श्रम कर रहा। ३७९.

- ९४५ परवस्तु नहीं तीन काल में कभी किसी की भी हुई;
अपना बनाने का प्रयत्न कर अहित ही अपना कर रहा। ३७९.
- ९४६ नहि जंग सुवर्ण को लगे, नहीं अग्नि को दीमक कभी-
स्वभाव में आवरण नहीं, न्यूनता, अशुद्धि आती नहीं। ३८०.
- ९४७ पहिचान करके तू उसे, तू लीन हो जा उसी में;
तेरे सर्व गुणरत्नों की चमक तो प्रगट बने। ३८०.
- ९४८ शास्त्र पढे, विवाद करे, प्रमाण-नय-निक्षेपादि से-
तर्क करे, धारणारूप ज्ञान को विशेष फेरते। ३८१.
- ९४९ फेरे विशेष किन्तु यदि ज्ञान स्वरूपी आत्म के-
अस्तित्व को पकड़े नहीं, तद्रूप भी परिणति नहीं। ३८१.
- ९५० ज्ञेयनिमग्न, जो बाहर का जाने उसमें तल्लीन रहे;
मानो वहाँ से ज्ञान आता हो, भाव ऐसे वेदते। ३८१.
- ९५१ सब पढ़ गया, युक्ति-न्याय को जाने, विचार किये;
जानने वाले को जाना नहीं, असली भूमि दृष्टिगोचर नहीं। ३८१.
- ९५२ तो वह सब जाना न जाना फल कुछ भी आता नहीं;
शास्त्रादि का प्रयोजन है ज्ञानस्वरूप को ही जानना। ३८१.
- ९५३ उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप है, नित्य रहकर है पलटता;
स्थायी स्वरूप रीता नहीं, नित्य पूर्ण है भरा हुआ। ३८२.
- ९५४ अनंत गुण रत्न के कमरे जहाँ है भरे हुए;
उस अद्भुत ऋद्धि युक्त स्वरूप पर दृष्टि करे। ३८२.
- ९५५ तो तुझ को संतोष हो मैं तो सदा कृतकृत्य हूँ;
हो स्थिर उसमें तो पर्याय में कृतकृत्य तू हो जायगा। ३८२.
- ९५६ निर्णय ज्ञायक का करे मतिश्रुत का उपयोग जो-
वह बाह्य में है जा रहा उसे अंतर में समेटना। ३८३.
- ९५७ बाहर जाते उपयोग को ज्ञायक अवलंबन से-
बारंबार स्थिर करता रहे, शिवपुरी पहुँचने का मार्ग है। ३८३.

- १५८ अनुभूति जो ज्ञायक की शिवपुरी की सड़क है;
है वो ही मारग मोक्ष का, दूसरे वर्णन के प्रकार है। ३८३.
- १५९ निधान है ठसाठस भरे, अनंत गुण निधान को—
अनंतक्षेत्र आवश्यक नहीं, असंख्यात प्रदेश में है भरे। ३८४.
- १६० निधान एसे है तुझ में तू बाहर लेने जात क्यों?
तुझ में ही देख न! तुझ में कुछ भी कमी है नहीं। ३८४.
- १६१ सुख पूर्ण है, ज्ञानपूर्ण है, सबकुछ तेरे में ही है;
कोई भी वस्तु बाहर लेने जाना पड़े ऐसा नहीं। ३८४.
- १६२ प्रवेशकर अंतर में समकित होते दिखायी दे—
निधान के प्रगट अंश को वेदकर तृप्त हो जायगा। ३८४.
- १६३ पुरुषार्थ करते ही रहना, भोक्ता होकर निधान का—
तू सदाकाल ही परम तृप्त-तृप्त हो जायगा। ३८४.
- १६४ काल अनंत, वार अनंत सब कुछ किया पहिचाना नहीं;
देव-गुरु है क्या कह रहे जिज्ञासा से बराबर सुनकर— ३८५.
- १६५ विचारकर, ठोस भूमि अस्तित्व को लेकर ख्याल में—
स्वरूप में लीनता करे तो पहिचान-प्राप्ति हो सके। ३८५.
- १६६ इस के सिवा यदि बाहर से मिथ्या प्रयत्न किये जायँ वे—
सब व्यर्थ, भूसा कूटने बराबर, कुछ मिलता नहीं। ३८५.
- १६७ बाह्य क्रिया से मार्ग नहीं, ज्ञान ही मार्ग बतला सके;
सच्ची समझ से प्रारंभ मार्ग का हो सके, क्रिया से नहीं। ३८६.
- १६८ प्रत्यक्ष गुरु उपदेश, परमागमो का ज्ञान जो—
प्रयोजन भूत हो वही मार्ग प्राप्ति में निमित्त है। ३८६.
- १६९ चैतन्य स्पर्श से निकलती वाणी हृदय में उतरती;
रुचि पूर्वक सुने यदि तो सम्यक्त्व निकट हो सके। ३८६.
- १७० आत्मा अजायब घर वहीं अनंतगुण आश्चर्य है;
आश्चर्यकर तू देख वहाँ, बाह्य में कुछ है ही नहीं। ३८७.

- ९७१ अजायब घर में सबकुछ भरा अवलोकन उसीका कर भला—
एकबार भीतर झांकने से आनंद अपूर्व प्राप्त अहा! ३८७.
- ९७२ बाहर निकलना सुहाता नहीं, बाह्य सर्व वस्तु प्रति—
आश्चर्य भी टूट जायगा, परसे विरक्त हो जायगा। ३८७.
- ९७३ मुनिराज को शुद्धात्म के अवलंबन से संयम हुआ;
ब्रह्मांड पलट जाय यदि संयम परिणति नहीं पलटती। ३८८.
- ९७४ मुनि साधना के हेतु वन जंगल में अकेले बसे;
देखे अंतर से तो अनंतगुण स्वरूप नगर में ही बसे। ३८८.
- ९७५ बाहर से देखे क्षुधा-तृषावंत उपवासी दिखे;
अंतर से मधुर रस का आस्वादन है मुनि कर रहे। ३८८.
- ९७६ बाहर तो चारो ओर से घनघोर अंधेरा व्याप्त है;
अंतर आतम ज्ञान का मुनि को उजाला फैल रहा। ३८८.
- ९७७ बाहर सूर्य के प्रखर ताप में मुनि है ध्यान करे;
अंतर में संयमरूपी शीतल छाया में विराजते। ३८८.
- ९७८ उपसर्ग में मुनि को लगे—‘स्वरूप स्थिरता प्रयोग का—
अवसर मुझ को मिल गया, उपसर्ग मेरा मित्र रहा।’ ३८८.
- ९७९ अंतरंग में मुनिराज की अंतरंग दशा अद्भुत है;
वहाँ देह में उपशम रस के ढाले ढल गये दिखते। ३८८.
- ९८० द्रव्यदृष्टि प्रगट हुई, दृष्टि के जोर से उसे—
चैतन्य-ज्ञायक भासतां देहादि कुछ भासित नहीं। ३८९.
- ९८१ वहाँ भेदज्ञान परिणति ऐसी दृढ है हो गई—
स्वप्न में भी आतमा शरीर से भिन्न भासित है। ३८९.
- ९८२ दिन-रात ज्ञायक, निंद में या जागृति में निराला रहे;
जो है निराला वह प्रगट निराला ही हो जात है। ३८९.
- ९८३ उसको भूमिकानुसारी बाह्य वर्तन होत है;
चाहे जिस संयोग में ज्ञान-वैराग्य ओर ही रहे। ३८९.

- १८४ ज्ञायक निशंक ज्ञायक हूँ, विभाव-मैं कभी एक नहीं;
पृथक ही हूँ, ब्रह्मांड भी पलटजाय पृथक मैं रहूँ। ३८९.
- १८५ ऐसा अचल निर्णय रहे, अनुभव में निःशकता;
उर्ध्वरूप ज्ञायक रहे, दूसरा नीचे रह जात है। ३८९.
- १८६ मुनि समाधि परिणत, सुख समाधिको उत्सुक है;
'वे सकल विमल केवल्य ज्ञान-दर्शन लोलुप है' ३९०.
- १८७ कब स्थिरता श्रेणी लगे वीतरागता प्रगट करे?
कब अवसर आयगा उग्र रमणता से केवल मिले? ३९०.
- १८८ यह ध्यान कब जम जाय कि शाश्वत स्वभाव में ही रहूँ?
मुनिराज को ऐसी सदा है भावना वर्तती रहे। ३९०.
- १८९ निज आश्रय से एकाग्र हो केवल्य समीप है जा रहे;
शांति प्रचुर वेदन रहे, कषाय बहुत मंद हुए। ३९०.
- १९० ऋद्धि-चमत्कार है प्रगट, परन्तु उसका दुर्लक्ष है;
चमत्कार हमें ये नहीं, चेतन चमत्कार चाहिये। ३९०.
- १९१ साधनरूप निर्विकल्प ध्यान, समाधि चाहिये;
परिणाम से परिपूर्ण गुण-पर्याय पूर्ण प्रगट हो सके। ३९०.
- १९२ चैतन्य विलास प्रगट हो, इस भावना को आत्म में-
अत्यन्त लीनता से मुनि सफल कर सकते ही है। ३९०.
- १९३ अज्ञानी ने अनादि से समृद्धि से भरे हुए अपने-
चेतन महल ताले लगा, बाहर स्वयं भटकता रहा। ३९१.
- १९४ वह ज्ञान बाहर ढूँढता, आनंद बाहर ढूँढता;
बाहर सब कुछ ढूँढता, भगवान हो भीख माँगता। ३९१.
- १९५ चैतन्य महल के ज्ञानी ने ताले सभी है खोल दिये;
अंतर में ज्ञानादि की देखकर अखूट समृद्धि को। ३९१.
- १९६ थोड़ी उस को भोगकर जिस का पहले कभी भी था-
अनुभव नहीं, विश्रान्ति ऐसी उसको अब है हो गई। ३९१.

- ९९७ उत्कृष्ट-आश्चर्यकर विभूति कोई विश्व में नहीं—
चैतन्य से उँची नहीं, तू ही विभूति, तेरे पास ही है। ३९२.
- ९९८ उपसर्ग या शरीर छूटने का डर तूझे क्यों लग रहा?
बाधा पहुँचती पुद्गल को जाता छूट वह तेरा नहीं। ३९२.
- ९९९ आश्चर्यकर, मंगलकारी तत्त्व तू है, क्यों डरत है?
समाधि में ही स्थिर तू, कर ध्यान, भय तू छोड़ दे? ३९२.
- १००० भवभ्रमण से छूटना यदि पर से भिन्न निश्चित करे;
स्वभाव की लाकर महिमा समकित का प्रयास करे। ३९३.
- १००१ यदि ध्रुव ज्ञायक भूमि का आश्रय नहीं तो जीव यह—
रे! साधना का बल किस के आश्रय से प्रगट करे? ३९३.
- १००२ ज्ञायक की ध्रुव भूमि में यदि दृष्टि जम जाय तो—
एकाग्रता प्रयत्न से निर्मलता प्रगट हो सके। ३९३.
- १००३ साधक की दृष्टि निरंतर शुद्धात्म पर ही होती है;
तो भी वह है जानता शुद्धाशुद्ध सब पर्याय को। ३९३.
- १००४ जानते हुए भी विवेक है स्वभाव-विभावपने का उसे—
सुख-दुःखरूप वेदन का, साधक व बाधक का उसे। ३९३.
- १००५ साधकदशा में साधक योग्य परिणाम तो होते ही है;
परन्तु 'परिपूर्ण हूँ' बल ऐसा सतत है साथ रहे। ३९३.
- १००६ पुरुषार्थरूप क्रिया बने पर्याय में यह जानता;
दृष्टि विषयभूत निष्क्रिय द्रव्य तो अधिक ही रहे। ३९३.
- १००७ साधक परिणति की अटपटी ज्ञानी बराबर समझते;
दूसरों सभी को समझना यह कठिन है बहोत लगे। ३९३.
- १००८ मुनिराज के हृदय बीच आत्मा ही है विराजता;
आत्मामय ही प्रवर्तन रहे, निर्भय आत्म आश्रय से। ३९४.
- १००९ घोर जंगल, घनी झाड़ी हो, सिंह—व्याघ्र हो दहाड़ते;
मेघाच्छन्न रात डरावनी, अंधकार चारो ओर हो। ३९४.

- १०१० वहाँ गिरिगुफा मुनिराज चैतन्य में मस्त बसे;
स्वरूप झूले झूलते आत्मलीन अद्भुत दशा । ३९४.
- १०११ यदि आत्म से बाहर आये श्रुतादि के चितवन में—
चित लगता है उसका फिर अंतर में जाते चले । ३९४.
- १०१२ स्वभाव पहिचान अनुभव करते विभाव रस टूट जात है;
चेतनभूमि खड़ा रहकर विभाव को तू तोड़ सके । ३९५.
- १०१३ विभाव में ही खड़ा रहे, टूटे नहीं, मन्द बने;
देवादि गति मिलती परन्तु चार गति मिटती नहीं । ३९५.
- १०१४ तीन लोक को जाननेवाले की महिमा तुझे है क्यों नहीं ?
आत्मा ही सर्वस्व तुझे, उसमें ही सब है भरा पड़ा । ३९६.
- १०१५ ज्ञाता रहा, दृष्टा रहा, सारे विश्व का यह आत्मा;
अनंत शक्तिवंत में ऋद्धि सभी भरपूर है । ३९६.
- १०१६ उसमें कुछ भी कमी नहीं, उसमें सब कुछ है भरा;
उसीमें सर्व ऋद्धि भरी, बाह्य ऋद्धि का क्या काम है ? ३९६.
- १०१७ बाह्य पदार्थ में कोतूहल उसे अंतर की रुचि है नहीं;
अंतर पहुँचा जाता नहीं, सुख प्रगट होता नहीं । ३९६.
- १०१८ चैतन्य मेरा देव है, मैं देखता उसीको ही हूँ;
दूसरा सभी जो अन्य वह मुझ को दिखाता है नहीं । ३९७.
- १०१९ द्रव्य पर आया जोर है, द्रव्य की ही रहे अधिकता;
उसको तभी सब कुछ तब से निर्मल होता जात है । ३९७.
- १०२० स्वयं गया जब अपने में एकत्व बुद्धि टूट गई;
रस सब वहाँ ढीले हुए, स्वरूप रस प्रगट हुआ । ३९७.
- १०२१ अन्य रस में फीकापन हुआ, न्यारा सब से न्यारा हो गया;
संसार रस है घट गया, सारी दिशा ही पलट गई । ३९७.
- १०२२ अपना परम भाव मैंने ग्रहा, तीन लोक वैभव तुच्छ हुए;
निर्मल पर्याय प्रगट हुई, दृष्टि बल से कहूँ मेरी नहीं । ३९८.

- १०२३ स्वभाव मुझ अगाध है, अमाप है, पर्याय का-
निर्मल वेदन हो भले विशेषता उसकी नहीं। ३९८.
- १०२४ एसी अहो! दृष्टि परम द्रव्य की कब प्रगटती?
महिमा कर, विमुख होकर, झुके अपने में तब प्रगटती। ३९८.
- १०२५ सम्यग्दृष्टि को भले स्वानुभूति पूर्ण नहीं;
परन्तु दृष्टि में उसे परिपूर्ण ध्रुव आत्म ही है। ३९९.
- १०२६ ज्ञानपरिणति द्रव्य तथा पर्याय को है जानती;
पर्याय पर जोर नहीं, द्रव्य की ओर ही बल रहे। ३९९.
- १०२७ शाश्वत पूर्ण चैतन्य हूँ मुझ गुण ज्यों के त्यों ही है;
गुण जैसे के तैसे ही है यहि दृष्टि उपादेय है। ४००.
- १०२८ एकेन्द्रिय में मैं कम नहीं, देवभव में गुण नहीं बढ़ा;
जानना सब कुछ पर, दृष्टि द्रव्य पर ही रखे। ४००.
- १०२९ विभाव से हो विमुख परिणमन स्वरूप ओर ढले-
ज्ञानी निज स्वरूप में परिपूर्ण स्थिरता तरसता। ४०१.
- १०३० 'विभाव हमारा देश नहीं, परदेश हम कहाँ आ गये?
हम को न यहाँ अच्छा लगे, यहाँ हमारा कोई नहीं। ४०१.
- १०३१ जहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चरित्र, आनंद, वीर्यादि बसे;
यह अनन्त गुण परिवार हमारा, वह स्वदेश है। ४०१.
- १०३२ स्वरूप स्वदेश अब हम जा रहे, त्वरा से हमें-
मूल वतन अपने में है बसना, सब हमारे ही है जहाँ।' ४०१.
- १०३३ प्राप्त कराये केवल्य ऐसा ध्यान वह प्रतिक्रमण है;
उत्तम यह प्रतिक्रमण से दोष पुनः नहीं होत है। ४०२.
- १०३४ श्रेणी लगा वीतरागता हो केवल्य सागर उछल पड़ा;
अंतर्मुखता अनेकवार हुई पर यह तो अन्तिम कोटि की! ४०२.
- १०३५ पर्याय ऐसी आतमा के साथ है जुड़ गई कि-
उपयोग अंतर में गया वो बाहर फिर आया ही नहीं। ४०२.

- १०३६ चेतन पदारथ ज्ञान में जैसा भी जाना था अहा!—
वैसा ही उसे पर्याय में उसने प्रसिद्ध कर लिया। ४०२.
- १०३७ चंद्रपूर्ण के योग से है ज्वार आता समुद्र में—
मुनिराज को एकाग्रता अवलोकन से ज्वार चढ़े। ४०३.
- १०३८ वैराग्य का ज्वार चढ़े, आनंद का ज्वार चढ़े;
सर्व गुण पर्याय का यथा सम्भव ज्वार चढ़े। ४०३.
- १०३९ यह ज्वार बाहर से नहीं भीतर से आता रहे;
चैतन्य चंद्र निहारते अंदर से चेतना उछलती रहे। ४०३.
- १०४० चारित्र-सुख भी उछलता, वीर्य भी उछलता है वहाँ;
सब कुछ ही उछलता रहे, है धन्य एसी मुनिदशा। ४०३.
- १०४१ पर से भिन्न ज्ञायक के निर्णय से भेदज्ञान का—
अभ्यास बारंबार करते विकल्प टूट जात है। ४०४.
- १०४२ उपयोग गहराई में चला और भोंयरे में भगवान का—
दर्शन जैसे प्राप्त हो वैसे आत्म दर्शन होत है। ४०४.
- १०४३ स्वानुभूति की कला यदि हाथ में है आ गई—
तो पूर्णता की कला मिले केवलज्ञान केलि होत है। ४०४.
- १०४४ अज्ञानी जीव 'क्षणिक सब, संसार तो दुःखरूप है';
इस भाव से वैरागी बने, नहीं सहजरूप वो होत है। ४०५.
- १०४५ 'आत्मा ही मेरा आनंदरूप' इस अनुभव सह वैराग्य तो—
उसको नहीं होता कभी सहज शांति परिणमित नहीं। ४०५.
- १०४६ वह घोर तप करता रहे पर एकत्व तो टूटा नहीं;
इसलिये उसको कभी नहीं आत्मप्रतपन प्रगट अरे! ४०५.
- १०४७ तू अनादि हो, अनंत हो, है 'जानना' स्वभाव तुझ;
शरीरादि जड़ पदार्थ कुछ जानते तो है नहीं। ४०६.
- १०४८ जो जाननेवाला वो कभी नहीं जाननेवाला होता नहीं;
नहीं जाननेवाला कभी जाननेवाला होता नहीं। ४०६.

- १०४९ तू तो सदा भिन्न रहे, जड़ साथ एकत्व मानकर—
तू दुःखी है हो रहा, पर नहि तेरा स्वरूप है। ४०६.
- १०५० शुभ-अशुभ के भाव सभी तेरा असली स्वरूप नहीं;
यह ज्ञानी अनुभवी पुरुषो का निर्णय जानना। ४०६.
- १०५१ प्रयत्न कर निर्णय दिशा में, मति व्यवस्थित किये बिना—
तर्क ही तू उठाता रहे तो पार न तेरा आयगा। ४०६.
- १०५२ कुंदकुंद भगवान को पंच परमेष्ठी के प्रति—
कैसी भक्ति उल्लसित हुई, नमस्कार स्मरण भक्ति से किया। ४०७.
- १०५३ त्रिकाल के तीर्थकरों को साथ ही मनुष्य क्षेत्र में—
विद्यमान तीर्थकरों को अलग स्मरण करके— ४०७.
- १०५४ सब को तथा प्रत्येक को 'वंदन करुं' ऐसा कहकर—
अति भक्तिभीने चित्त से आचार्य भगवान नम गये। ४०७.
- १०५५ ऐसे भक्तिभाव मुनि को आये बिना रहते नहीं;
नाम भगवान का आने पर उल्लसित रोम-रोम बने। ४०७.
- १०५६ ऐसे भक्ति आदि के शुभभाव आये तब भी—
मुनिराज को ध्रुव ज्ञायक तत्त्व ही मुख्य रहे। ४०७.
- १०५७ शुद्धात्म आश्रित समाधिरूप परिणमन वर्तता रहे;
शुभभाव तो उपर ही तरते स्वभाव से विपरीतरूप रहे। ४०७.
- १०५८ निवृत्त अल्प परिणाम में अपूर्व शीतलता लगे;
तो सर्वथा निवृत्त हुए सिद्ध, शांति का तो क्या कहे? ४०८.
- १०५९ सागर उछल रहा शांति का, शांति अमाप होती है;
आनंद सागर हिलोरे ले, आनंद अपार होत है। ४०८.
- १०६० तुझ आत्म में भी ऐसा सुख-आनंद है भरा हुआ—
चादर विभ्रम की आडी आ जाने से दिखता नहीं। ४०८.
- १०६१ मधुविंदु लालसा में पड़ा विद्याधर सहाय नहि ग्रहे;
वैसे विषय सुख लालसा में गुरु उपदेश उपेक्षा करे। ४०९.

- १०६२ काम इतना मैं करूँ इस प्रकार प्रवृत्ति के रस में—
लीन रहकर शुद्धात्म प्रतीति का समय पाता नहीं। ४०९.
- १०६३ मृत्यु समय आ पहुँचता तब पछताये क्या काम का?
'मैंने कुछ किया नहीं, मनुष्य भव व्यर्थ गया।' ४०९.
- १०६४ मृत्यु समय किस की शरण? वह रोग, वेदन, मृत्यु की—
एकत्व, आर्तध्यान की चपेट में देह छोड़ भव को हारता। ४०९.
- १०६५ पर रोग, वेदन, मृत्यु की चपेट धर्मी आता नहीं;
क्योंकि उसने शुद्धात्म की शरण को है प्राप्त किया। ४०९.
- १०६६ विपत्ति समय वह आत्म में से शांति को प्राप्त करे;
वह विकट प्रसंग में शुद्धात्म की शरण ग्रहे। ४०९.
- १०६७ मरणादि समय धर्मी जीव शाश्वत सुख सरोवर में—
विशेष-विशेष वह डूबकी लगाता रहता है। ४०९.
- १०६८ नहीं रोग है, वेदन नहीं, मरण नहीं, शांति अखूट है;
शांति पूर्वक देह छोड़ता उसका जीवन ही सफल है। ४०९.
- १०६९ मरण समय पहले चेत जा, हो सावधान तू सदा;
शरणभूत शुद्धात्म को अनुभवने का उद्यम करे। ४०९.
- १०७० अस्तित्व को पकड़ा नहीं, 'शाश्वत सुख भरपूर है';
अनुभव कर शुद्ध परिणति की धारा प्रगट की है नहीं। ४१०.
- १०७१ उसने भले संसार सुख नाशवंत-दुःख दायक जानकर—
हो छोड़ दिया, बाह्य में मुनिपना है ग्रहण किया। ४१०.
- १०७२ दुर्धर तप करता भले, उपसर्ग में अडिग रहे;
तो भी उसे वह सब कुछ भी निर्वाण कारण नहीं बने। ४१०.
- १०७३ शुद्ध परिणमन तो है नहीं, शुभ स्वर्ग का कारण बने;
मात्र शुभ परिणाम ही उपादेय बुद्धि से है वर्तता। ४१०.
- १०७४ नौ पूर्व भले वह पढ़ गया, सामान्य द्रव्य स्वरूप को—
अनुभव पूर्वक जाना नहीं, वह सब इसलिये अज्ञान है। ४१०.

- १०७५ सच्चे मुनि को शुद्धात्म आश्रित परिणति चलती रहे;
कर्तापना तो समकित होने पर ही है छूट गया। ४१०.
- १०७६ ज्ञातृत्व धारा अतूट है, समाधि परिणमित रहे;
शीघ्र शीघ्र निजात्म में लीन हो आनंद वेदन करे। ४१०.
- १०७७ मुनिराज को प्रचुरपने स्वसंवेदन है होता रहे;
है वह दशा अद्भूत अहा! वह जगत से न्यारी है। ४१०.
- १०७८ वीतरागता पूर्ण नहीं व्रतादि शुभभाव रहे;
वह हेय बुद्धि से रहे, वह दशा मुक्ति कारण बने। ४१०.
- १०७९ भ्रांति कर काल अनंत से पर कार्य करने का श्रम करे;
परन्तु पर कार्य कभी बिलकुल वह नहीं कर सके। ४११.
- १०८० प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र रूप से सदा है परिणमित रहे;
छह कारक जीव के जीव में—पुद्गल के पुद्गल में रहे। ४११.
- १०८१ वर्णादि पुद्गल परिणमित जीव उन्हे बदल सकता नहीं;
चेतनरूप चेतन परिणमित जड़ उसमें कुछ कर सकता नहीं। ४११.
- १०८२ ज्ञायक स्वभावी तू सदा पौद्गलिक से भिन्न ही है;
परन्तु शुभ-अशुभ के भाव भी तेरा स्वभाव है नहीं। ४११.
- १०८३ अज्ञान से पर में—विभाव में एकत्व बुद्धि की तू ने;
उस बुद्धि को तू छोड़कर ज्ञाता ही हो जा अभी। ४११.
- १०८४ शुद्धात्म की प्रतीति से द्रव्यदृष्टि प्रगट करके—
ज्ञायक परिणति प्रगट कर वह मुक्ति प्रति प्रयाण है। ४११.
- १०८५ रे! मरण तो आता ही है, जब सब कुछ भी छूट जायगा—
बाह्य वस्तु एक छोड़ने में दुःख तुझे होता यदि— ४१२.
- १०८६ तो बाह्य द्रव्य-क्षेत्र तथा काल-भाव समस्त ही—
जब एक साथ छूट जायँगे, दुःख कितना होगा तुझे। ४१२.
- १०८७ वेदन मरण का कितना अरे! कोई बचाओ रे! मुझे!
हृदय पुकारता रहे कोई तुझे नहीं बचा सके। ४१२.

- १०८८ धन ढेर लगा, वैद्य करे, सबंधी सब खड़े रहे—
टुकुर-टुकुर तू देखता, शरणभूत कोई नहीं तुझे। ४१२.
- १०८९ शाश्वत स्वयं रक्षित ज्ञानानंदरूप आत्म की—
प्रतीति-अनुभूति की यदि आराधना उसकी करी— ४१२.
- १०९० शांति प्रगट की होगी तो वह एक शरण देगी तुझे;
इसलिये तू अभी से ही प्रयत्नकर उसका भला। ४१२.
- १०९१ मौत सिरपर मंडरा रहा, स्मरण वारंवार कर के—
पुरुषार्थ को तू रे! चला, बस एक ही है करना तुझे। ४१२.
- १०९२ 'अब हम अमर हुए न मरेंगे' इस भाव में तू समाधि से—
यदि देह त्याग कर सके—एक आत्मा ही उपादेय तुझे। ४१२.
- १०९३ भगवान सर्वज्ञ परिपूर्ण रूप है परिणमित हुए—
पूर्ण रूप से वे अपने को प्रत्यक्ष रूप से जानते। ४१३.
- १०९४ सर्वगुणो के भूत-वर्तमान और भावि सभी—
पर्याय के अविभाग प्रतिच्छेदों से है जानते। ४१३.
- १०९५ स्वक्षेत्र में रहकर पर समीप-सन्मुख हुए बिना—
रहकर निराले सर्व पर्याय को प्रत्यक्ष है वो जानते। ४१३.
- १०९६ पर को जानने के लिये परसन्मुख वे होते नहीं;
होते यदि तो ज्ञान दब-रुक जाय विकसता नहीं। ४१३.
- १०९७ पूर्णरूप यदि परिणमित हो, जाने बिना न रहेता किसे;
वह ज्ञान चेतन क्षेत्र रहकर तीनकाल-लोक अलोक के— ४१३.
- १०९८ मानो सभी ज्ञेय स्वपर ज्ञान में उत्कीर्ण हो गये—
स्व-पर समस्त एक समय में सहजरूप प्रत्यक्ष जानता। ४१३.
- १०९९ जो बीत गया उस सब को भी पूरा है जानता—
होना उस सब को भी पूरा जानता, अद्भुत है। ४१३.
- ११०० चक्रवर्ती भीख माँगता वैसे ही तू भीख माँगता;
तीन लोक का तू नाथ है, ऋद्धि भंडार है भरा हुआ। ४१४.

- ११०१ 'पर पदार्थ देता ज्ञान, सुख भी वह देता मुझे';
अनंत गुण भंडार इस रीत भीख है माँगता रहे। ४१४.
- ११०२ धन, शरीर, शुभकार्य परिणमन में मुझे सुख मिले—
है इस प्रकार भीख माँगता, कुछ नहीं मिले बाहर से उसे। ४१४.
- ११०३ गहराई से ज्ञायकपना अभ्यास किया जाय तो—
अंतर से ही उसको सब कुछ है मिलता रहे। ४१४.
- ११०४ यदि भोंयरे तिजोरी का ताला योग्य कुंजी से—
खोला गया, निधान तो प्राप्त करे, दारिद्र हटे। ४१४.
- ११०५ गहराई से ज्ञायक के अभ्यासरूप कुंजी से—
भ्रांतिरूप ताला खुले, निधान मिले, भिक्षुक मिटे। ४१४.
- ११०६ 'आत्मा हमारा गुण अनंत से भरपूर'—मुनिराज कहे—
'अमृतरूप अनंत से भरपूर घट अक्षय है। ४१५.
- ११०७ अल्प अमृत जाय पिया-पतली धार हो-संतोष नहीं;
अमृत पूर्ण प्रति समय हो पान, पूर्ण दशा चाहिये। ४१५.
- ११०८ सादि अनंत प्रति समय अमृत पूर्ण है जाता पिया;
और घट भी तो भी सदा परिपूर्ण रहता है भरा। ४१५.
- ११०९ चमत्कारिक पूर्ण शक्तिवान शाश्वत द्रव्य है;
प्रतिसमय ऐसी ही पूर्ण व्यक्तिवाला है परिणमन। ४१५.
- १११० उत्कृष्ट ऐसी निर्मलदशा की भावना को भाते है';
इस भावना के समय मुनिराज की दृष्टि शुद्ध पर ही है। ४१५.
- ११११ भवभ्रमण चलता ही रहे—भव व्यतित हो योग्य नहीं;
भव के अभाव का प्रयत्न करने के लिये यह भव है। ४१६.
- १११२ भव भ्रमण दुःखों से भरा गंभीरता से विचार तू—
क्षण एक भी असह्य लगे सागरोपम आयु कैसे कटे? ४१६.
- १११३ इस नरक के दुःखों सभी सुने भी जाते है नहीं;
काँटा लगे यदि पैर में तुझ से सहा जाता नहीं। ४१६.

- १११४ तो फिर जिस के गर्भ में अनंतानंत दुःख है पड़े;
मिथ्यात्व को तो छोड़ने का उद्यम है नहीं, गफलत में रहे। ४१६.
- १११५ उत्तम ऐसा योग पुनः कब मिलेगा तुझे;
मिथ्यात्व छोड़ने के लिये जी-जान से प्रयत्न करे। ४१६.
- १११६ शाता अशाता से और आकुलता से भिन्न यह-
निराकुल ज्ञायक स्वभाव अनुभवने का पुरुषार्थ करे। ४१६.
- १११७ समकित पश्चात् स्थिरता बढ़े स्वरूप लीनता होती रहे;
ऐसी दशा जब हो तभी मुनिदशा है आ सके। ४१७.
- १११८ स्वरूप की ओर बढ़ती शुद्धि बढ़ गई होती है;
कि घड़ी-घड़ी वे आत्मा में प्रविष्ट हो जात है। ४१७.
- १११९ वीतरागता पूर्ण नहीं इसलिये जब बाहर आते है-
विकल्प तो उठते परन्तु गृहस्थ योग्य होते नहीं। ४१७.
- ११२० स्वाध्याय - ध्यान - तप - भक्ति - व्रत - संयमादि के-
मुनि योग्य, हठ रहित शुभ विकल्प ही होत है। ४१७.
- ११२१ बड़ी निःस्पृह है दशा आत्मा की ही है लगन लगी;
चैतन्य नगरी में ही उस का सदा रहता निवास है। ४१७.
- ११२२ मैं और मेरे गुण अनंते चैतन्यनगर की वस्ती है;
मुझे उसीका ही काम है मुझे दूसरों का क्या काम है? ४१७.
- ११२३ आत्मा की ही एक धुन है, विश्व कथा से उदास है;
आत्मामय जीवन हो गया, मानो चलते फिरते सिद्ध है। ४१७.
- ११२४ जैसे झलक पिता की पुत्र में, भगवान की मुनिराज में-
छठवें-सातवें रहते हुए आगे ही बढ़ते जात है। ४१७.
- ११२५ केवल्य न हो तब तक शुद्धि को बढ़ाते जात है;
यह साधना अंतरंग की जगत जीव नहीं देखते। ४१७.
- ११२६ यह साधना बाहर से कहीं देखने की वस्तु नहीं;
अंतर दशा मुनिराज की आश्चर्यकारी, वंध्यरूप है। ४१७.

- ११२७ अनंत अव्याबाध सुख है सिद्ध को प्रगट हुआ;
उसका कभी भी नाश नहीं सुख छोड़ दुःख में नहीं आयेंगे। ४१८.
- ११२८ भिन्न परिणमित क्षायिक में एकरूप कभी होते नहीं;
जो सिद्धरूप परिणमित हुए असिद्धरूप होंगे नहीं। ४१८.
- ११२९ परिणमन सिद्धत्व का प्रवाह सादि-अनंत है;
सादि अनंत काल प्रतिसमय पूर्णरूप परिणमित रहे। ४१८.
- ११३० गुणरत्न में चमक उठती रहे, उत्पाद-व्यय होते रहते;
परिपूर्ण ज्यों के त्यों रहते, स्वभाव ऐसा अद्भूत है। ४१८.
- ११३१ प्रश्न-काल अनंत के दुःखियारे, दुःख हमारे कैसे मिटे?
उत्तर-‘विभाव से भिन्न ज्ञायक मैं’ इस मार्ग से सुख आ सके। ४१९.
- ११३२ ज्ञायक की प्रतीति होती और विभाव की रुचि छूटे;
इस प्रयत्न से टूटे विकल्प और सुख की घड़ी आयगी। ४१९.
- ११३३ ‘ज्ञायक हूँ में’ पहले भले उपरी भाव से, फिर गहराई से;
परन्तु तू चाहे जैसे करे उस मार्ग पर तू जा अभी। ४१९.
- ११३४ शुभ-अशुभ भिन्न ज्ञायक का ज्ञायकरूप अभ्यास कर-
ज्ञायक प्रतीति दृढ़ करे, ज्ञायक गहराई से प्राप्त करे। ४१९.
- ११३५ है वोही सादि-अनंत सुख प्राप्ति का उपाय रे!
आत्मा ही सुख का धाम है, सुख उसमें से प्राप्त करे। ४१९.
- ११३६ प्रश्न-जिज्ञासु को चौबीस घंटे आत्म विचार क्या चलत है?
उत्तर-चलते नहीं, परन्तु खटका, लगन, रुचि उत्साह बना रहे। ४२०.
- ११३७ मुझे करना है आत्म का, पहिचानना है आत्म को-
इस प्रकार लक्ष बारंवार आत्मा की ओर मुड़ता रहे। ४२०.
- ११३८ प्रश्न-अभ्यास में विशेष या चिंतवन में लगाये समय को?
उत्तर-चिंतन सहित अभ्यास और अभ्यास पूर्वक चिंतन होत है। ४२१.
- ११३९ विशेष अपेक्षा परिणति अपनी टिकती हो जिस में-
जिससे अपने को लाभ होता दिखायी दे वह करना। ४२१.

- ११४० अभ्यास से निर्णय हो, लाभ विशेष होता हो यदि-
प्रयोजन भूत अभ्यास को विशेष करना चाहिये। ४२१.
- ११४१ चिंतन से विशेष दृढ़ता-लाभ विशेष होता हो यदि-
प्रयोजनभूत चिंतन को विशेष करना चाहिये। ४२१.
- ११४२ जहाँ परिणति को लाभ हो वहाँ वह करना चाहिये;
परिणति पहिचाने आत्म को यही ध्येय होना चाहिये। ४२१.
- ११४३ उस ध्येय सिद्धि हेतु 'ऐसा ही करना' नियम नहीं;
दृढ़ता बढ़े, हो लाभ जहाँ, वैसा ही करना चाहिये। ४२१.
- ११४४ प्रश्न-यह विकल्प पीछा हमारा क्यों कहो नहीं छोड़ते?
उत्तर-विकल्प तुझे है नहीं लगे तू विकल्पों को है लगा। ४२२.
- ११४५ हट जा न तू! विकल्प में रंच मात्र सुख-शांति नहीं;
अंतर में सुख पूर्ण है एवं समाधान भी है वहीं। ४२२.
- ११४६ स्वभाव प्रतीति होती प्रथम, भेदज्ञान पहले होत है;
विकल्प है पश्चात् तूटते ओर स्वानुभूति होती है। ४२२.
- ११४७ 'सर्व गुणांश सो समकित' कहा तो निर्विकल्प होने पर सभी-
गुण का आंशिक शुद्ध परिणमन वेदन में आ सके? ४२३.
- ११४८ आनंद गुण पर्याय वहाँ प्रगट होने पर आत्म के-
सर्व गुण की आंशिक शुद्ध पर्याय वेदन होत है। ४२३.
- ११४९ है आत्मा अखण्ड सर्व गुण भी आत्मा के ही है;
गुण एक का वेदन साथ सर्वगुण पर्याय वेदन होत है। ४२३.
- ११५० गुण सर्व के नाम न आते हो, संज्ञा न भाषा में कह सके-
तो भी गुण सर्व का इसे संवेदन तो होता ही है। ४२३.
- ११५१ स्वानुभूति के काल में अनंतगुण सागर आत्मा-
आनंदादि पर्याय में प्रगटता, रमण करता हुआ। ४२३.
- ११५२ वह प्रगट निर्विकल्प दशा अद्भुत-वचनातीत है;
प्रगट दशा होने पर ही सारा जीवन जाता पलट। ४२३.

- ११५३ प्रश्न- आत्म द्रव्य का बहु भाग तो शुद्ध सदा रहकर के-
थोड़े ही मात्र भाग में अशुद्धता है आयी न? ४२४.
- ११५४ उत्तर-निश्चय से न अशुद्धता है भाग थोड़े में भी रही;
जो अशुद्धता है वह तो उपर-उपर ही है तैरती। ४२४.
- ११५५ यदि अशुद्धता द्रव्य के थोड़े भाग में भी आ सके-
तो अशुद्धता निकलेगी नहीं सदा काल ही वहाँ रहे। ४२४.
- ११५६ बद्ध-स्पष्टादि भाव उपर तैरते, उसमें स्थान नहीं;
शक्ति सदा शुद्ध ही है, अशुद्धता व्यक्ति में आयी है। ४२४.
- ११५७ प्रश्न- जिज्ञासु जीव का तत्त्व यथार्थ तो भी कहाँ अटकता ?
उत्तर-किन्ही पदार्थ में गहरे सुख की कल्पना रह जाती है। ४२५.
- ११५८ अथवा शुभ परिणाम में आश्रय बुद्धि है रह गई;
इत्यादि कोई प्रकार से जीव अटक जाता है वहीं। ४२५.
- ११५९ परन्तु जो जिज्ञासु हो आत्मार्थी जो खास हो-
हो प्रगट खास पात्रता तो कहीं भी अटकता नहीं। ४२५.
- ११६० उस जीव को यदि ज्ञान की भूल कोई हो रह गई-
स्वभाव की लगन बल से वह भी निकल जाती है। ४२५.
- ११६१ अंतर की खास प्रकार की है पात्रता जिस जीव की;
वह कहीं भी अटके बिना आत्म की है प्राप्ति करे। ४२५.
- ११६२ प्रश्न- मुमुक्षु को समकित प्राप्त करने क्या करना कहो ?
उत्तर-स्वरूप को छोड़ा नहीं, अनादि भ्रान्ति हो गई। ४२६.
- ११६३ 'है छोड़ दिया' भासित हुआ, द्रव्य अनादि शुद्ध भरा;
आनंद-ज्ञायकरूप है, शक्ति चमत्कार अनंत है। ४२६.
- ११६४ पर द्रव्य से पर भाव से, ज्ञायक भिन्न पहिचानना-
भेद ज्ञान का अभ्यास कर ज्ञायक आत्म को पहिचानना। ४२६.
- ११६५ 'मैं ज्ञायक स्वरूप हूँ' अभ्यास कर प्रतीति करे-
हो स्थिर तो शक्ति चमत्कारिक अनुभव आ सके। ४२६.

- ११६६ प्रश्न- मुमुक्षु है जीव वो पहले कहो है क्या करे ?
उत्तर-द्रव्य-गुण व पर्याय को पहले सब को पहिचानता । ४२७.
- ११६७ स्वभाव सामान्य पहिचान कर, दृष्टि करे;
अभ्यास करते स्थिर हो तो विभूति प्रगट हो सके । ४२७.
- ११६८ चैतन्य असल स्वभाव में लगन से प्रतीति हो सके;
स्थिर हो जात उसीमें उसका अनुभव तो हो सके । ४२७.
- ११६९ चैतन्य प्रथम पहिचान कर, विश्वास कर, स्थिर हो गया-
चैतन्य प्रगट हो कर उसकी शक्ति प्रगट हो जायगी । ४२७.
- ११७० तैयारी होना चाहिये पुरुषार्थ बारंबार करे;
ज्ञायक का अभ्यास ओर मंथन ज्ञायक का ही रहे । ४२७.
- ११७१ ज्ञायक का चिंतवन हो, चैतन्य प्रगट तो हो सके;
मार्ग गुरु ने बतला दिया, चारों ओर से स्पष्ट किया । ४२७.
- ११७२ प्रश्न- आत्म विभूति को उपमा क्या देकर समझा सके ?
उत्तर-अनुभव में वो आ सके, उपमा न लागु हो सके । ४२८.
- ११७३ प्रश्न- अंतिम कैसा विकल्प आत्मानुभव पूर्व हो सके ?
उत्तर-अंतिम विकल्प का कोई नियम नहीं होत है । ४२९.
- ११७४ शुद्धात्म की सन्मुखता अभ्यास भेदज्ञान पूर्वक करे;
अभ्यास करते चैतन्य तत्त्व की प्राप्ति हो सके । ४२९.
- ११७५ ज्ञायक की ओर परिणति ढल रही अंतिम का नियम नहीं;
अमुक ही विकल्प हो अंतिम ऐसा कोई नियम नहीं । ४२९.
- ११७६ ज्ञायक उग्रता हो वहाँ विकल्प का संबंध नहीं;
लगन, उग्रता, हो तीव्रता, वर्णन वहाँ नहीं हो सके । ४२९.
- ११७७ अभ्यास से गहराई में जाकर तल में पहिचानता;
जाकर तल में स्थिर हो, तो ज्ञायक प्रगट-प्राप्ति बने । ४२९.
- ११७८ प्रश्न-निर्विकल्प में वेदन किस का ? द्रव्य या पर्याय का ?
उत्तर-दृष्टि रहती ध्रुव धाम में, वेदन होता आनंदादि का । ४३०.

- ११७९ नहि पलटता, नहि बदलता, जो अनादि-अनंत है;
दृष्टि करे, ध्यान करने से विभूति प्रगट है हो सके। ४३०.
- ११८० प्रश्न-निर्विकल्प अनुभूति समय आनंद कैसा होत है?
उत्तर-किसी जगत के-विभाव, वस्तु-साथ तुलना नहीं हो सके। ४३१.
- ११८१ जो अनुभव वो जानता उपमा न लागु हो सके;
ऐसी ही अचिंत्य और अद्भुत उसकी महिमा है। ४३१.
- ११८२ आज श्री महावीर प्रभुका निर्वाण का शुभ दिन है-
प्रश्न- इस पावन प्रसंग पर कृपया दो शब्द कहे। ४३२.
- ११८३ उत्तर- निर्वाण दिन में वीर अहा! आनंद-केवल्य ज्ञान में-
परिणमन करते थे उनने आज सिद्ध दशा प्राप्त की। ४३२.
- ११८४ पूर्व अकंप, अयोगीपद, हो पृथक्, चिद्रूप हो कर-
सिद्धालय विराजकर सुखादि गुण परिणत हुए। ४३२.
- ११८५ त्रिलोकी नाथ चले गये, भगवान का वियोग हुआ;
आज भरत क्षेत्र में वीर प्रभु का रे! विरहा पड़ा। ४३२.
- ११८६ इन्द्रो उपर से उतरकर निर्वाण महोत्सव मना रहे-
देवों मनाया गया उत्सव होगा दिव्य कैसा अहा! ४३२.
- ११८७ करके अनुसरण उसका प्रतिवर्ष लोग आज ही-
प्रज्वलित करके दीपमाला दीपावली मनाते रहे। ४३२.
- ११८८ मोक्ष पथारे आज वीर, गणधर अंतर में उतर गये;
वीतराग को प्राप्त कर कैवल्यज्ञान प्राप्त किया। ४३२.
- ११८९ स्वक्षेत्र रहकर स्वपर प्रकाशक ज्ञान जो प्रगट हुआ-
आश्चर्यकर वह ज्ञान लोकालोक को है जानता। ४३२.
- ११९० आतम असंख्य प्रदेश में आनंद आदि अनंतानंत-
गुणो की अनंत पूरण पर्याय प्रकाशित हुई। ४३२.
- ११९१ क्षेत्र भरत में विरह है, केवल ज्ञानी भी है नहीं;
विदेह में विरह नहीं, धर्मकाल ही सदैव रहे। ४३२.

- ११९२ भिन्न-भिन्न विभाग में वीस तीर्थकर विद्यमान-
पुष्कलावती विजय में सीमंधरनाथ विचर रहे। ४३२.
- ११९३ समवसरण में विराजकर दिव्य ध्वनि स्रोत बहा रहे;
ऐसे ही अन्य विभाग में अन्य तीर्थकर है विचर रहे। ४३२.
- ११९४ निर्वाण पधारे वीर तथापि इस पंचम काल में-
वीर शासन प्रवर्त रहा उपकार भी है वर्त रहा। ४३२.
- ११९५ वीर शासन में समर्थ महा आचार्य भगवंत हुए;
वीरवाणी के रहस्य विविध प्रकार से शास्त्रो में भरे। ४३२.
- ११९६ श्री कुंदादि ने दिव्यध्वनि के रहस्यों से भरे-
परमागमों की रचना कर के मुक्ति मार्ग प्रकाश किया। ४३२.
- ११९७ वर्तमान श्री गुरु कहान भी सूक्ष्म रहस्य को खोलकर-
यह मुक्ति के मार्ग को स्पष्ट रीति से समझा रहे। ४३२.
- ११९८ सातिषय वाणी-ज्ञान से जागृत भारत को किया;
उपकार अमाप गुरुदेव का इस काल में भाग्य महा। ४३२.
- ११९९ सातिषय गुणरत्न से भरपूर गुरु महिमा रहो-
चरण कमल की भक्ति अहोनिश मुझ अंतर में रहो। ४३२.

(रचना : दि. २३-११-९९ से दि. २०-१२-९९)



कहान शरणे

(राग—आछा नीरे उछळी रही रे, पेती वाहिनी वाधे)

- अनंत काळथी आथड्यो रे, कहान आव्यो न आरो;
छतां न थाव्यो एहथी रे, ए ज भूल थई मोटी। १
- आतम ज्ञान न श्रद्धियुं रे, बहार साधवा चाल्यो;
मळ्यो न मारग मोक्षनो रे, शरण तारे हुं आव्यो। २
- हवे नथी आश भवनी रे, जल्दी मोक्ष छे जावुं;
भव भ्रमण टळी जाय जो रे, तो ज सुख हुं पामुं। ३
- हवे निगोदमां जईश तो रे, पछी नहीं आवे आरो;
भव समुद्रना तळथी रे, केम पाछो हुं आवुं! ४
- नारक निगोदना दुःखथी रे, हवे हाय हुं त्रास्यो;
फरी नथी जवुं ते दिश रे, मोक्षमार्ग बतावो। ५
- साचा रस्ते चाल्यो जईश हुं रे, कदी मार्ग न भूलुं;
कंटक आवशे पंथमां रे, एने ओळंगी जावुं। ६
- सम्यग्दर्शन थाय जो रे, तोज सुख हुं पामुं;
मिथ्यात्वना अंशमांथी रे, केम ज्ञानने भाळुं। ७
- अंधकारमां पड्यो आतमा रे, तमे ज्ञान दीप आपो;
पडदा पाछळना पात्रने रे, जल्दी खोली बतावो। ८
- कहान शरण हुं आवीयो रे, मने राह बतावो!
थाकी गएल आ जीवने रे, जरा शांति तो आपो! ९
- हाथ जोडी हुं विनवुं रे, मने आशरो आपो!
पाछळ पडेल शत्रुने रे, तमे रोकीने राखो! १०
- वधारे शुं कहुं-विनवुं रे, एक ज आश छे मारी;
मोक्ष लक्ष्मी वरवाने रे, इच्छुं हुं साथ तमारो। ११

(‘कहान महिमा’ १९६६ में प्रकाशित)

रचना-दि. १५-५-१९६१, अड़ताला

‘चैतन्यप्रिय’

सुखनी खोज

(राग-गीत अमे गोत्युं गोत्युं ने क्यांय ना जङ्गुं)

अमे कुटुंब कबीलाने पूछ्युं, ना एक आंसु लूछ्युं;
 के सुख अमे शोध्युं शोध्युं ने क्यांय ना मळ्युं ।
 जई बेठा सत्ताने हिंडोळे ने संपत्तिने छोळे!—के सुख ।
 अमे शोध्युं शरीरनी घाटे! यौवननी वाटे!—के सुख ।
 अमे परदेशमां जई शोध्युं, चांदाने संबोध्युं!—के सुख ।
 अमे शोध्युं संगीतना सूरे ने पडदाना नूरे!—के सुख ।
 अमे स्वर्गे जईने शोध्युं, शुं त्यां वेटुंतुं ?—के सुख ।
 अमे शोध्युं भूवाना धूमाडे जो दुःखने कहाडे!—के सुख ।
 अमे शोध्युं काळा व्यापारे ने विषय कषाये!—के सुख ।
 चोरी, परिग्रह, हिंसाए, जूठ-व्यभिचारे!—के सुख ।
 अमे व्रत-जप-तप बहु कीधां, पूजा ने दान दीधां!—के सुख ।
 अमे संयममां जीव खोळ्यो त्यागने ढंढोळ्यो!—के सुख ।
 अमे शोध्युं पुस्तकना पाने, कुगुरुना ज्ञाने!—के सुख ।
 दया, सेवा अने वैरागे, भक्तिना भावे!—के सुख ।
 अमे कर्मने जईने कीधुं, ना सुख केम दीधुं?—के सुख ।
 अमे पंचमहाव्रत पाळ्या, वृथा जनम गाळ्या!—के सुख ।
 सुख आतमामां पेठुंतुं, बहार गोत्युं'तुं—के सुख ।

(‘कहान महिमा’ १९६६ में प्रकाशित)
 रचना-दि. १९-२-१९६५, अड़ताला

‘चैतन्यप्रिय’



वीर बाळाओने

(प्रेझर्कन सौनेट)

(मन्दाक्रांता)

छोडीदैने गृह सकळनां क्लेश भावो, तरुणी-
बाळाओ सौ अति उमळके आवती हर्ष घेली !
ना तेने कें क्षण पण अरे, रोकती आश पेली-
संसारीनी विषय वळगी वासनाओ विषेनी !

वाणी मीठी अमृत झरती एक वारे ज सूणी,
आवी फ्होंचे गुरु शरणमां वासनाने हटेली;
माताजीनी चरण रजने मस्तके शीघ्र मेली,
सोंपी देती जीवन सघळुं, मात ने तात मुनि !

आहाहाहा ! गजब तम ए साहसो आत्मप्रेर्या !
ना दीटांतां प्रथम कदीए सेंकडो वर्ष वित्यां;
ने ए पेली समकित तणी साधना पामवाने,

पुरुषार्थे मगन भणतां आगमो कुंद वेर्या !
छे ए धन्य तम सम जहां बाळ वीरो जनम्या
माता, पिता, गुरु, धरम ने देश, ग्रामो बधाने !

(‘कहान महिमा’ १९६६ में प्रकाशित)
रचना-दि. १९-२-१९६५, अडताला

‘चैतन्यप्रिय’



‘चैतन्य प्रिय’ रचित प्रकाशित थयेल रचनाओं

| कहान महिमा | पुस्तिका | शुं कहुं कहान हुं ? जगतथी थाकीयो कहानमहिमा |
|---------------------------------------|------------|--|
| ● आ सुवर्णपुरेथी छूटती | जीवसूत्र | ● प्रणमन करु गुरुदेवने (१३२) कहानमहिमा |
| ● पोन्नुर धाम जई आव्या | जीवसूत्र | ● ज्ञानानंद सूर्य आज अहीं ऊगीयो कहानमहिमा |
| ● कहान दोहरा | जीवसूत्र | मात महिमा |
| ● तारा नेत्र महींथी किरणो खरे | जीवसूत्र | पुस्तिका |
| ● तारी लगनी लागी गुरुजी | जीवसूत्र | ● मात आव्यां ! सूत्रत्रयी |
| ● प्रभो ! ज्ञानात्मा छो | जीवसूत्र | ● बोलो ना केम अम संग ? माताजी ! सूत्रत्रयी |
| ● विदेहमां बसे बहु संतो | जीवसूत्र | धन्यावतार ! (गद्य/पद्य) मातमहिमा |
| ● जगतनां सर्व धर्मोमां | जीवसूत्र | ● आवो, आवो, भगवती मात ! मातमहिमा |
| ● के पश्चिम दिशेथी चडीयुं वादळुं रे ! | सम सूत्र | आ लोक सौ जागी गया मातमहिमा |
| कहान मारग छे शूरानो | सूत्रत्रयी | जन्म वधाई (गद्य/पद्य) प्रभातने हजुं मातमहिमा |
| ● लाग्यो दृष्टिनो रंग तने | सूत्रत्रयी | लई विदेहनी वात तुं न्यारी मातमहिमा |
| ● जैन धरममां अंधाधूंधी | मातमहिमा | देवराज (गद्य/पद्य) अभिनय मातमहिमा |
| सुवर्णसम आ तीरथमां कहानगुरु | मातमहिमा | छे कोण आ ! कहेशो तमे (गद्य/पद्य) मातमहिमा |
| गुरुवर जरूर पधारो ! | सूत्राष्टक | के मात मोरी अमथी नहीं मीठी... मातमहिमा |
| कही तो जुओ, कोई कही तो जुओ | सूत्राष्टक | आज मंगळ दिन महा ऊगीयो रे ! मातमहिमा |
| ते देशमां विहरतां बहु शास्त्र जोयां | कहानमहिमा | उच्छवासे ने श्वासे मारी मातमहिमा |
| कहानजी ! शुं रे कहुं हुं कहानजी | कहानमहिमा | अेनो अणमोल आतम रे ! मातमहिमा |
| अनंत काळथी आथड्यो रे ! | कहानमहिमा | ● श्रावणी वीज रूडी आवी, आवी मातमहिमा |
| जगतथी कंटाळी जईने दीक्षा... | कहानमहिमा | मातानो जय हो ! मातमहिमा |
| कहान मुखेथी जाय लळी | कहानमहिमा | श्रावण वदी वीजलडी ने... मातमहिमा |
| ● तुज प्रवचनो बहु प्रिय मने | कहानमहिमा | ● तमे रे ! जळ ने अमे माछली... मातमहिमा |
| कहान कहुं ? सद्गुरु के कहुं | कहानमहिमा | ना बोलो तो भले ना बोलो... मातमहिमा |
| गुरुदेव छो ज्ञानना दरिया... | कहानमहिमा | नव नव नवली वीजलडी ने... मातमहिमा |
| ● आज मंगळ दिन महा ऊगीयो रे | कहानमहिमा | ढोल साथे घंट वागे मातमहिमा |
| सुवर्णपुरीना वासी गुरुने लाखो | कहानमहिमा | जळहळता आतमाने घोळी मातमहिमा |
| आवी'ती एक याद तारी गुरुजी | कहानमहिमा | माता ! अद्भुत शक्ति तारी मातमहिमा |
| कहानना नामनो आलाप में | कहानमहिमा | ● समकित सुखडुं मळीयुं... मातमहिमा |
| ● कहान आव्या ! अम तारणहार... | कहानमहिमा | आ सौम्य सरळ ते बहेनश्री ने... मातमहिमा |
| गुरुना गुण पामर शुं कथे रे | कहानमहिमा | अहो ! अमर आतमा... मातमहिमा |
| नव नव नवली वीजलडी | कहानामृत | |

‘चैतन्य प्रिय’ रचित प्रकाशित थयेल रचनाओ

| जैन भजनो (जनरल) | पुस्तिका | क्रम | सूत्र | श्लोक संख्या |
|-------------------------------------|------------|------|-----------------------|------------------|
| ● अरर ! हुं नाच्यो बहु गुरुराज | समकितसूत्र | १ | जीवसूत्र | ३१२ |
| ● जैनी जनतो तेने रे कहीए जे... | समकितसूत्र | २ | समकितसूत्र | ३७९ |
| ● आतम रटण केम छोडी दीधुं ? | समकितसूत्र | ३ | पुण्य-पापसूत्र | ४०७ |
| ● आवो रहेवासी रे आतमपुरना | समकितसूत्र | ४ | कारकसूत्र | ६३३ |
| याद आवे छे गुरु साधना धाम रे ! | सूत्रत्रयी | ५ | दृष्टिसूत्र | ३९५ |
| ● अघरो कांई नथी मोक्षनो मारग | सूत्रत्रयी | ६ | मार्गसूत्र | २५५ |
| ● गुंजे छे नाद ज्यां गुरुराजना रे ! | मातमहिमा | ७ | उपादानसूत्र | २५१ |
| रे ! केटलाक एक इश्वरमां सदा... | मातमहिमा | ८ | भावनासूत्र | १८० |
| अनंत ज्ञानीनो एक ज आशय... | सूत्राष्टक | ९ | नयसूत्र | ८६ |
| आतम राम तमे जागो जागो हो... | सूत्राष्टक | १० | ज्ञानसूत्र | ९६ |
| समकित रतननी प्रीत-अरेंरे ! | सूत्राष्टक | ११ | देवसूत्र | ४५७ |
| धारोके खूब खायुं-पीधुं ने मोटर... | सूत्राष्टक | १२ | द्रव्यसूत्र | १०५ |
| भवाई मानवीनी बधे भजवाई... | सूत्राष्टक | १३ | पुरुषार्थसूत्र | १६० |
| ● स्व स्वरूप सदा रमण करे... | सूत्राष्टक | १४ | पंचतत्त्वसूत्र | १९४ |
| अपूर्व अवसर अेवो अमने... | सूत्राष्टक | १५ | कहान महिमा | (गीत) ३४ |
| मारा खेतरने रखवालुं मारा आत्मनुं | सूत्राष्टक | १६ | मातमहिमा | (गीत) ३२ |
| अनादि काळनी अमारी... | सूत्राष्टक | | | |
| क्षमानिधान निज शुद्ध ज्ञायक... | सूत्राष्टक | | | |
| अमे कुटुंब कबीलाने पूछ्युं... | कहानमहिमा | १ | मारां फैवा सरळ | मंदाक्रान्ता |
| आगमथी तुज अंतर दाजे... | कहानमहिमा | २ | अमारा ए दादा | शिखरिणी |
| वीती वय नहीं पाछी वळे रे ! लोल | कहानमहिमा | ३ | तमो तो रे ! चाल्यां ! | शिखरिणी |
| ब्रह्मचर्य भावना | कहानमहिमा | ४ | अमारा मातुश्री | शिखरिणी |
| नथी तुं आजकालनो | कहानमहिमा | ५ | अमारा बापुजी | शिखरिणी |
| धार्युं होत तो लाख वे लाख... | कहानमहिमा | ६ | स्मरीने गुण आपना | शार्दूलविक्रिडित |
| छोडी दैने गृह सकळनां क्लेश... | कहानमहिमा | | | |
| धर्मनी वकीलात | कहानमहिमा | | | |
| ● हरि वसे छे तम अंतरमां | अप्रकाशित | | | |
| ● शोभीतो धर्म (हां रे मने वालो) | मातमहिमा | | | |
| शुद्ध बुद्ध कृतकृत्य जिनवर | मातमहिमा | | | |
| त्राता, विधाता, शांत छो... | सूत्राष्टक | | | |
| | | क्रम | नवा प्रकाशना | भाषा |
| | | १ | चंपामृत | १९९९ गुजराती |
| | | २ | चंपामृत | १९९९ हिन्दी |
| | | ३ | कहानामृत | १०७० गुजराती |
| | | ४ | कहानामृत | १०७० हिन्दी |
| | | | ऑडियो और VCD रूपांतर | |